लाला

योगिराज श्रीकृष्ण

परवर्ती काल में कृष्ण के उदात्त तथा महनीय आर्योचित चरित्र को समझने में चाहे लोगों ने अनेक भूलें ही क्यों न की हों, उनके समकालीन तथा अत्यन्त आत्मीय जनों ने उस महाप्राण व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन किया था। सम्राट् युधिष्ठिर उनका सम्मान करते थे तथा उनके परामर्श को सर्वोपरि महत्त्व देते थे। पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य जैसे प्रतिपक्ष के लोग भी उन्हें भरपूर आदर देते थे।

आर्य जीवनकला का सर्वांगीण विकास हमें कृष्ण के पावन चरित्र में दिखाई देता है। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। सर्वत्र उनकी अद्भुत मेधा तथा सर्वग्रासिनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। वे एक ओर महान् राजनीतिज्ञ, क्रान्तिविधाता, धर्म पर आधारित नवीन साम्राज्य के स्रष्टा राष्ट्रपुरुष के रूप मे दिखाई पड़ते है तो दूसरी ओर धर्म, अध्यात्म, दर्शन और नीति के सूक्ष्म चिन्तक, विवेचक तथा प्रचारक भी हैं। उनके समय में भारत देश सुदूर गांधार से लेकर दक्षिण की सह्याद्रि पर्वतमाला तक क्षत्रियों के छोटे-छोटे, स्वतंत्र किन्तु निरंकुश राज्यों में विभक्त हो चुका था। उन्हें एकता के सूत्र में पिरोकर समग्र भरतखण्ड को एक सुदृढ़ राजनीतिक इकाई के रूप में पिरोने वाला कोई नहीं था।

(शेष दूसरे फ्लैप पर)

योगिराज श्रीकृष्ण

(जीवन-चरित)

योगिराज श्रीकृष्ण

लाला लाजपतराय

अनुवाद

मास्टर हरिद्वारीसिंह बेदिल

सम्पादन

डॉ० भवानीलाल भारतीय

ग्रन्थकार लाला लाजपतराय

भारत की आजादी के आन्दोलन के प्रखर नेता लाला लाजपतराय का नाम ही देशवासियो मे स्फूर्ति तथा प्रेरणा का संचार करता है । अपने देश, धर्म तथा संस्कृति के लिए उनमें जो प्रबल प्रेम तथा आदर था उसी के कारण वे स्वयं को राष्ट्र के लिए समर्पित कर अपना जीवन दे सके । भारत को स्वाधीनता दिलाने में उनका त्याग, बलिदान तथा देशभक्ति अद्वितीय और अनुपम थी । उनके बहुविध क्रियाकलाप मे साहित्य-लेखन एक महत्त्वपूर्ण आयाम है । वे उर्दू तथा अंग्रेजी के समर्थ रचनाकार थे ।

लालाजी का जन्म 28 जनवरी, 1865 को अपने ननिहाल के गाँव ढुंढिके (जिला फरीदकोट, पंजाब) में हुआ था । उनके पिता लाला राधाकृष्ण लुधियाना जिले के जगराँव कस्बे के निवासी अग्रवाल वैश्य थे । लाला राधाकृष्ण अध्यापक थे । वे उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे तथा इस्लाम के मन्तव्यों में उनकी गहरी आस्था थी । वे मुसलमानी धार्मिक अनुष्ठानो का भी नियमित रूप से पालन करते थे । नमाज पढ़ना और रमजान के महीने में रोजा रखना उनकी जीवनचर्या का अभिन्न अंग था तथापि वे सच्चे धर्म-जिज्ञासु थे । अपने पुत्र लाला लाजपतराय के आर्यसमाजी बन जाने पर उन्होंने वेद के दार्शनिक सिद्धान्त त्रैतवाद (ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का अनादित्व) को समझने में भी रुचि दिखाई । लालाजी की इस जिज्ञासु प्रवृत्ति का प्रभाव उनके पुत्र पर भी पड़ा था ।

लाजपतराय की शिक्षा पाँचवें वर्ष में आरम्भ हुई । 1880 में उन्होने कलकत्ता तथा पजाब विश्वविद्यालय से एंट्रेंस की परीक्षा एक ही वर्ष में पास की और आगे पढ़ने के लिए लाहौर आये । यहाँ वे गवर्नमेंट कॉलेज में प्रविष्ट हुए और 1882 में एफ०ए० की परीक्षा तथा मुख्तारी की परीक्षा साथ-साथ पास की । यहीं वे आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और उसके सदस्य बन गये । डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के प्रथम प्राचार्य लाला हंसराज (आगे चलकर महात्मा हसराज के नाम से प्रसिद्ध) तथा प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० गुरुदत्त उनके सहपाठी थे, जिनके साथ उन्हें आगे चलकर आर्यसमाज का कार्य करना पड़ा । इनके द्वारा ही उन्हें महर्षि दयानन्द के विचारों का परिचय मिला ।

1882 के अन्तिम दिनों में वे पहली बार आर्यसमाज लाहौर के वार्षिक उत्सव मे सम्मिलित हुए । इस मार्मिक प्रसंग का वर्णन स्वयं लालाजी ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है—"उस दिन स्वर्गीय लाला मदनसिह बी०ए० (डी०ए०वी० कॉलेज के संस्थापको मे प्रमुख) का व्याख्यान था । उनको मुझसे बहुत प्रेम था । उन्होंने व्याख्यान देने से पहले समाज मदिर की छत पर मुझे अपना लिखा सुनाया और मेरी सम्मति पूछी मैंने उस

व्याख्यान को बहुत पसन्द किया। जब मैं छत से नीचे उतरा तो लाला साँईदास जी (आर्यसमाज लाहौर के प्रथम मंत्री) ने मुझे पकड़ लिया और अलग ले जाकर कहने लगे कि हमने बहुत समय तक इन्तजार किया है कि तुम हमारे साथ मिल जाओ। मै उस घड़ी को भूल नहीं सकता। वह मेरे से बातें करते थे, मेरे मुँह की ओर देखते थे तथा मेरी पीठ पर प्यार से हाथ फेरते थे। मैंने उनको जवाब दिया कि मै तो उनके साथ हूँ। मेरा इतना कहना था कि उन्होंने फौरन समाज के सभासद बनने का प्रार्थना-पत्र मँगवाया और मेरे सामने रख दिया। मै दो-चार मिनट तक सोचता रहा, परन्तु उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारे हस्ताक्षर लिए बिना तुम्हे जाने न दूँगा। मैने फौरन हस्ताक्षर कर दिये। उस समय उनके चेहरे पर प्रसन्नता की जो झलक थी उसका वर्णन मै नहीं कर सकता। ऐसा मालूम होता था कि उनको हिन्दुस्तान की बादशाहत मिल गई है। उन्होंने एकदम पं० गुरुदत्त को बुलाया और सारा हाल सुनाकर मुझे उनके हवाले कर दिया। वह भी बहुत खुश हुए। लाला मदनसिंह के व्याख्यान की समाप्ति पर लाला साँईदास ने मुझे और पं० गुरुदत्त को मंच पर खड़ा किया। हम दोनों से व्याख्यान दिलवाये। लोग बहुत खुश हुए और खूब तालियाँ बजाईं। इन तालियों ने मेरे दिल पर जादू का-सा असर किया। मैं प्रसन्नता और सफलता की मस्ती में झूमता हुआ अपने घर को लौटा।''[1]

यह है लालाजी के आर्यसमाज में प्रवेश की कथा। लाला साँईदास आर्यसमाज के प्रति इतने अधिक समर्पित थे कि वे होनहार नवयुवकों को इस संस्था मे प्रविष्ट करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। स्वामी श्रद्धानन्द (तत्कालीन लाला मुंशीराम) को आर्यसमाज में लाने का श्रेय भी उन्हें ही है। 30 अक्टूबर, 1883 को जब अजमेर में ऋषि दयानन्द का देहान्त हो गया तो 9 नवम्बर, 1883 को लाहौर आर्यसमाज की ओर से एक शोकसभा का आयोजन किया गया। इस सभा के अन्त में यह निश्चय हुआ कि स्वामी जी की स्मृति में एक ऐसे महाविद्यालय की स्थापना की जाये, जिसमे वैदिक साहित्य, संस्कृत तथा हिन्दी की उच्च शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेजी और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान में भी छात्रों को दक्षता प्राप्त कराई जाये। 1886 मे जब इस शिक्षण संस्था की स्थापना हुई तो आर्यसमाज के अन्य नेताओं के साथ लाला लाजपतराय का भी इसके संचालन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा तथा वे कालान्तर मे डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के महान् स्तम्भ बने।

वकालत के क्षेत्र में

लाला लाजपतराय ने एक मुख्तार (छोटा वकील) के रूप मे अपने मूल निवासस्थान जगराँव मे ही वकालत आरम्भ कर दी थी; किन्तु यह कस्बा बहुत छोटा था, जहाँ उनके कार्य के बढ़ने की अधिक सम्भावना नहीं थी, अतः वे रोहतक चले गये। उन दिनों पंजाब प्रदेश मे वर्तमान हरियाणा, हिमाचल तथा आज के पाकिस्तानी पंजाब का भी समावेश था। रोहतक मे रहते हुए ही उन्होंने 1885 में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1886 में वे हिसार आ

---

1 लाला लाजपतराय की आत्मकथा- नवयुग ग्रंथमाला लाहौर से प्रकाशित 1932

गये । एक सफल वकील के रूप में 1892 तक वे यहीं रहे और इसी वर्ष लाहौर आये । तब से लाहौर ही उनकी सार्वजनिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया । लालाजी ने यों तो समाज-सेवा का कार्य हिसार में रहते हुए ही आरम्भ कर दिया था, जहाँ उन्होंने लाला चंदूलाल, प० लखपतराय और लाला चूड़ामणि जैसे आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं के साथ सामाजिक हित की योजनाओं के कार्यान्वयन में योगदान किया, किन्तु लाहौर आने पर वे आर्यसमाज के अतिरिक्त राजनैतिक आन्दोलन के साथ भी जुड़ गये । 1888 में वे प्रथम बार कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन मे सम्मिलित हुए जिसकी अध्यक्षता मि० जार्ज यूल ने की थी । 1906 मे वे प० गोपालकृष्ण गोखले के साथ कांग्रेस के एक शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में इंग्लैड गये । यहाँ से वे अमेरिका चले गये । उन्होंने कई बार विदेश यात्राएँ कीं और वहाँ रहकर पश्चिमी देशों के समक्ष भारत की राजनैतिक परिस्थिति की वास्तविकता से वहाँ के लोगों को परिचित कराया तथा उन्हें स्वाधीनता आन्दोलन की जानकारी दी ।

लाला लाजपतराय ने अपने सहयोगियों—लोकमान्य तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल के साथ मिलकर कांग्रेस में उग्र विचारों का प्रवेश कराया । 1885 में अपनी स्थापना से लेकर लगभग बीस वर्षों तक कांग्रेस ने एक राजभक्त संस्था का चरित्र बनाये रखा था । इसके नेतागण वर्ष मे एक बार बड़े दिन की छुट्टियों में देश के किसी नगर में एकत्रित होते और विनम्रतापूर्वक शासन के सूत्रधारों (अंग्रेजों) से सरकारी उच्च सेवाओं में भारतीयों को अधिकाधिक संख्या मे प्रविष्ट करने की याचना करते । 1905 मे जब बनारस मे सम्पन्न हुए कांग्रेस के अधिवेशन मे ब्रिटिश युवराज के भारत-आगमन पर उनका स्वागत करने का प्रस्ताव आया तो लालाजी ने उसका डटकर विरोध किया । कांग्रेस के मंच से यह अपनी किस्म का पहला तेजस्वी भाषण हुआ जिसमें देश की अस्मिता प्रकट हुई थी ।

1907 में जब पंजाब के किसानों में अपने अधिकारों को लेकर चेतना उत्पन्न हुई तो सरकार का क्रोध लालाजी तथा सरदार अजीतसिंह (शहीद भगतसिंह के चाचा) पर उमड़ पड़ा और इन दोनों देशभक्त नेताओं को देश से निर्वासित कर उन्हें पड़ोसी देश बर्मा के मांडले नगर मे नजरबंद कर दिया, किन्तु देशवासियो द्वारा सरकार के इस दमनपूर्ण कार्य का प्रबल विरोध किये जाने पर सरकार को अपना यह आदेश वापस लेना पड़ा । लालाजी पुनः स्वदेश आये और देशवासियों ने उनका भावभीना स्वागत किया । लालाजी के राजनैतिक जीवन की कहानी अत्यन्त रोमाचक तो है ही, भारतवासियों को स्वदेश-हित के लिए बलिदान तथा महान् त्याग करने की प्रेरणा भी देती है ।

जन-सेवा के कार्य

लालाजी केवल राजनैतिक नेता और कार्यकर्ता ही नही थे, उन्होंने जन-सेवा का भी सच्चा पाठ पढ़ा था । जब 1896 तथा 1899 (इसे राजस्थान में छप्पन का अकाल कहते है, क्योंकि यह विक्रम का 1956 का वर्ष था) में उत्तर भारत में भयंकर दुष्काल पड़ा तो लालाजी ने अपने साथी लाला हंसराज के सहयोग से अकालपीड़ित लोगों को सहायता पहुँचाई । जिन अनाथ बच्चो

को ईसाई पादरी अपनाने के लिए तैयार थे और अन्ततः जो उनका धर्म-परिवर्तन करने के इरादे रखते थे, उन्हें इन मिशनरियों के चंगुल से बचाकर फीरोजपुर तथा आगरा के आर्य अनाथालयों में भेजा । 1905 में कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) में भयंकर भूकम्प आया । उस समय भी लालाजी सेवा-कार्य में जुट गये और डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के छात्रों के साथ भूकम्प- पीड़ितों को राहत प्रदान की । 1907-08 में उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में भी भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और लालाजी को पीड़ितों की सहायता के लिए आगे आना पड़ा ।

पुनः राजनैतिक आन्दोलन में

1907 के सूरत के प्रसिद्ध कांग्रेस अधिवेशन में लाला लाजपतराय ने अपने सहयोगियो के द्वारा राजनीति में गरम दल की विचारधारा का सूत्रपात कर दिया था और जनता को यह विश्वास दिलाने मे सफल हो गये थे कि केवल प्रस्ताव पास करने और गिड़गिड़ाने से स्वतंत्रता मिलने वाली नही है । हम यह देख चुके हैं कि जनभावना को देखते हुए अंग्रेजों को उनके देश-निर्वासन को रद्द करना पड़ा था । वे स्वदेश आये और पुनः स्वाधीनता के संघर्ष मे जुट गये । प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) के दौरान वे एक प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप मे पुनः इंग्लैंड गये और देश की आजादी के लिए प्रबल जनमत जागृत किया । वहाँ से वे जापान होते हुए अमेरिका चले गये और स्वाधीनता-प्रेमी अमेरिकावासियों के समक्ष भारत की स्वाधीनता का पक्ष प्रबलता से प्रस्तुत किया । यहाँ उन्होंने इण्डियन होम रूल लीग की स्थापना की तथा कुछ ग्रन्थ भी लिखे । 20 फरवरी, 1920 को जब वे स्वदेश लौटे तो अमृतसर में जलियाँवाला बाग काण्ड हो चुका था और सारा राष्ट्र असन्तोष तथा क्षोभ की ज्वाला मे जल रहा था । इसी बीच महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया तो लालाजी पूर्ण तत्परता के साथ इस संघर्ष में जुट गये । 1920 में ही वे कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष बने । उन दिनों सरकारी शिक्षण संस्थाओं के बहिष्कार, विदेशी वस्त्रों के त्याग, अदालतो का बहिष्कार, शराब के विरुद्ध आन्दोलन, चरखा और खादी का प्रचार जैसे कार्यक्रमों को कांग्रेस ने अपने हाथ में ले रखा था, जिसके कारण जनता में एक नई चेतना का प्रादुर्भाव हो चला था । इसी समय लालाजी को कारावास का दण्ड मिला, किन्तु खराब स्वास्थ्य के कारण वे जल्दी ही रिहा कर दिये गये ।

1924 में लालाजी कांग्रेस के अन्तर्गत ही बनी स्वराज्य पार्टी मे शामिल हो गये और केन्द्रीय धारा सभा (सेंट्रल असेम्बली) के सदस्य चुन लिए गये । जब उनका पं० मोतीलाल नेहरू से कतिपय राजनैतिक प्रश्नों पर मतभेद हो गया तो उन्होंने नेशनलिस्ट पार्टी का गठन किया और पुनः असेम्बली में पहुँच गये । अन्य विचारशील नेताओं की भाँति लालाजी भी कांग्रेस मे दिन-प्रतिदिन बढ़ने वाली मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति से अप्रसन्नता अनुभव करते थे, इसलिए स्वामी श्रद्धानन्द तथा पं० मदनमोहन मालवीय के सहयोग से उन्होंने हिन्दू महासभा के कार्य को आगे बढ़ाया । 1925 मे उन्हें हिन्दू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन का अध्यक्ष भी बनाया गया । ध्यातव्य है कि उन दिनों हिन्दू महासभा का कोई स्पष्ट राजनैतिक कार्यक्रम नहीं था और

वह मुख्य रूप से हिन्दू संगठन, अछूतोद्धार, शुद्धि जैसे सामाजिक कार्यक्रमों में ही दिलचस्पी लेती थी । इसी कारण कांग्रेस से उसका थोडा भी विरोध नहीं था । यद्यपि संकीर्ण दृष्टि के अनेक राजनैतिक कर्मी लालाजी के हिन्दू महासभा मे रुचि लेने से नाराज भी हुए किन्तु उन्होंने इसकी कभी परवाह नही की और वे अपने कर्तव्यपालन में ही लगे रहे ।

जीवन-संध्या

1928 में जब अंग्रेजों द्वारा नियुक्त साइमन कमीशन भारत आया तो देश के नेताओं ने उसका बहिष्कार करने का निर्णय लिया । 30 अक्टूबर, 1928 को कमीशन लाहौर पहुँचा तो जनता के प्रबल प्रतिरोध को देखते हुए सरकार ने धारा 144 लगा दी । लालाजी के नेतृत्व मे नगर के हजारों लोग कमीशन के सदस्यों को काले झण्डे दिखाने के लिए रेलवे स्टेशन पहुँचे और 'साइमन वापस जाओ' के नारों से आकाश गुँजा दिया । इस पर पुलिस को लाठीचार्ज का आदेश मिला । उसी समय अंग्रेज सार्जेंट साण्डर्स ने लालाजी की छाती पर लाठी का प्रहार किया जिससे उन्हें सख्त चोट पहुँची । उसी सायं लाहौर की एक विशाल जनसभा में एकत्रित जनता को सम्बोधित करते हुए नरकेसरी लालाजी ने गर्जना करते हुए कहा—**मेरे शरीर पर पडी लाठी की प्रत्येक चोट अंग्रेजी साम्राज्य के कफन की कील का काम करेगी ।** इस दारुण प्रहार से आहत लालाजी ने अठारह दिन तक विषम ज्वर की पीड़ा भोगकर 17 नवम्बर, 1928 को परलोक के लिए प्रस्थान किया ।

बहुआयामी व्यक्तित्व

लाला लाजपतराय का व्यक्तित्व बहुआयामी था । वे एकसाथ ही उत्कृष्ट वक्ता, श्रेष्ठ लेखक, सार्वजनिक कार्यकर्ता, सेवाभावी समाजसेवक, राजनैतिक नेता, शिक्षाशास्त्री, चिन्तक, विचारक तथा दार्शनिक थे । आर्यसमाज से ही उन्होने देश-सेवा का पाठ पढा था और स्वामी दयानन्द से उन्होंने समर्पण तथा सेवा का आदर्श ग्रहण किया था । उनके शब्दों में **आर्यसमाज मेरी माता तथा स्वामी दयानन्द मेरे धर्मपिता हैं । मैंने देश-सेवा का पाठ आर्यसमाज मे ही पढ़ा है ।** लालाजी के बलिदान के पश्चात् देशबंधु चित्तरंजनदास की पत्नी श्रीमती बसती-देवी ने एक वक्तव्य प्रसारित कर कहा था कि क्या देश मे कोई ऐसा क्रान्तिकारी युवक नही है जो भारतकेसरी लालाजी की मौत का बदला ले सके ? जब यह बात सरदार भगतसिंह तक पहुँची तो उसने लालाजी पर लाठियों का प्रहार करने वाले साण्डर्स को मारकर उस अमर देशभक्त की मौत का बदला ले लिया । लाला लाजपतराय देश के स्वाधीनता संग्राम के महान् सेनानी थे । देशवासी उनके त्याग और बलिदान को सदा स्मरण रखेंगे ।

लाला लाजपतराय—लेखक और साहित्यकार के रूप मे

लालाजी का अध्ययन विशाल था । धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर उनका स्पष्ट चिन्तन था उनका लेखन विशद विविध विषया से सम्पृक्त तथा बहुआयामी था

जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

जीवनी-लेखन : स्वदेशी और अन्य देशीय महापुरुषों के जीवन-चरित-लेखन का उनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इटली के विख्यात देशभक्त मैजिनी और गैरीबाल्डी का जीवनी-लेखन तो विदेशी शासकों की दृष्टि मे इतना आपत्तिजनक समझा गया कि इन दोनो पुस्तको की जब्ती के आदेश प्रसारित किये गये । उनके द्वारा निम्न जीवन-चरित लिखे गये—

1. लाइफ एण्ड वर्क ऑफ पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम०ए० : इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1891 में पं० गुरुदत्त के निधन के एक वर्ष पश्चात् हुआ । यह लालाजी की प्रथम कृति है जिसे उन्होंने अपने मित्र तथा सहपाठी पं० गुरुदत्त के संस्मरणों के आधार पर लिखा था । विरजानन्द प्रेस, लाहौर से प्रकाशित यह ग्रन्थ अब प्राय: दुर्लभ हो चुका है । इसका उर्दू संस्करण 1992 में छपा था ।

2. महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका काम : स्वामी दयानन्द का यह उर्दू जीवन-चरित लालाजी ने 1898 में लिखा । इसका हिन्दी अनुवाद गोपालदास देवगण शर्मा ने किया जो 1898 मे ही 'दुनिया के महापुरुषों की जीवन-ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत छपा । 2024 वि० में सार्वदेशिक पत्र ने इसे अपने विशेषांक के रूप मे प्रकाशित किया ।

3. योगिराज महात्मा श्रीकृष्ण का जीवन-चरित्र : उर्दू मे इसका प्रकाशन 1900 मे लाहौर से हुआ । इसका हिन्दी अनुवाद मास्टर हरिद्वारीसिह बेदिल (गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर में अध्यापक) ने किया, जिसे पं० शंकरदत्त शर्मा ने वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद से प्रकाशित किया ।

4. शिवाजी महाराज का जीवन-चरित : 1896 में उर्दू में प्रकाशित ।

5. महात्मा ग्वीसेप मैजिनी का जीवन-चरित : यह भी मूलत: उर्दू में लिखा गया और 1896 में प्रकाशित हुआ । ब्रिटिश शासन ने इसे जब्त कर लिया । इसका हिन्दी अनुवाद श्री केशवप्रसाद सिंह ने किया जिसके कई संस्करण छपे । नेशनल बुक ट्रस्ट ने इसे 1967 मे पुन: प्रकाशित किया ।

6. गैरीबाल्डी : उर्दू में यह जीवन-चरित लिखा गया था । इसे भी अंग्रेजों ने प्रतिबंधित कर दिया था । देश के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा 1967 में पुन प्रकाशित हुआ ।

7. सम्राट् अशोक : मूल ग्रन्थ उर्दू में था । इसका हिन्दी अनुवाद चौधरी एण्ड सस, बनारस ने 1933 में प्रकाशित किया ।

अन्य ग्रन्थ

1. दि आर्यसमाज : आर्यसमाज के सिद्धान्तो, कार्यो तथा उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कृतित्व का विश्लेषण करने वाला यह अंग्रेजी ग्रन्थ 1914 मे लिखा गया था । उस समय लालाजी लंदन मे थे । सुप्रसिद्ध प्रकाशक लांगमैंस ग्रीन एण्ड कम्पनी ने इसे 1915 में प्रथम बार लंदन से ही प्रकाशित किया । इसका एक भारतीय संस्करण प्रिंसिपल

श्रीराम शर्मा ने सम्पादित किया, जिसमें उपयुक्त परिवर्धन भी किया गया था । ओरियेण्ट लागमैस, नई दिल्ली ने इसे 1967 मे प्रकाशित किया । इन पंक्तियों के लेखक ने इसका हिन्दी अनुवाद किया जिसके दो संस्करण क्रमश: 1982 तथा 1994 मे अजमेर तथा दिल्ली से प्रकाशित हुए । दिल्ली के ही विभिन्न प्रकाशकों ने हाल ही में इसके मूल अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित किये हैं । तरक्किए उर्दू बोर्ड, दिल्ली ने इसका उर्दू अनुवाद किशोर सुलतान से करवाकर प्रकाशित किया है ।

2. दि मैसेज ऑफ भगवद्गीता : इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से 1908 में प्रकाशित ।

3. अनहैप्पी इण्डिया : मिस कैथराइन मेयो नामक एक चालाक अमरीकी महिला पत्रकार ने भारत को बदनाम करने तथा उसे स्वराज्य के लिए अयोग्य सिद्ध करने की दृष्टि से ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासको की प्रेरणा पाकर 'मदर इण्डिया' नामक एक पुस्तक लिखी जो भारतीय चरित्र को अत्यन्त विकृत, दूषित तथा घृणोत्पादक शैली में प्रस्तुत करती थी । महात्मा गांधी ने पढ़कर इसे 'गंदी नाली के निरीक्षक की रिपोर्ट' कहा था । लालाजी ने इस पूर्वाग्रहयुक्त पुस्तक का सटीक और मुँहतोड़ उत्तर 1928 में 'अनहैप्पी इण्डिया' लिखकर दिया । 'दुखी भारत' शीर्षक से इसका हिन्दी अनुवाद इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ने ही प्रकाशित किया था ।

लालाजी ने आर्थिक, राजनैतिक तथा शिक्षा आदि विषयो पर अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे थे । इनका यथोपलब्ध विवरण इस प्रकार है :

1. England's Debt to India : B.W. Huebsch, New York से 1917 मे प्रकाशित ।

2. The Evolution of Japan. : आर० चटर्जी, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता से 1919 मे प्रकाशित ।

3. Ideals of Non-cooperation and Other Essays : जी०ए० नटेसन, मद्रास से 1924 में प्रकाशित ।

4. India's Will to Freedom : Writings and Speeches on the Present Situation. : गणेशन एण्ड कम्पनी, मद्रास से 1921 में प्रकाशित ।

5. The Problems of National Education in India : 1920 में प्रकाशित । भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा 1966 मे पुन: प्रकाशित ।

6. The Political Future of India : B.W. Huebsch, New York से 1919 में प्रकाशित ।

7. Story of My Deportation. : पंजाबी प्रेस, लाहौर से 1908 में प्रकाशित ।

8. Young India—An Interpretation and History of the National Movement. : B.W. Huebsch, New York से 1916 मे प्रकाशित । भारत लोक-सेवक मण्डल (Servants of the People's Society) लाहौर द्वारा 1927 में लाहौर से प्रकाशित भारतीय संस्करण ।

9. Report of People's Famine Relief Movement—1908 : लाहौर से

1909 में प्रकाशित ।

10. The Story of My Life : The People, लाहौर का लाजपतराय विशेषांक (अप्रैल 13, 18, सन् 1929)

यह लालाजी की आत्मकथा है जिसका हिन्दी अनुवाद पं० भीमसेन विद्यालंकार ने किया, जो 1932 में नवयुग ग्रन्थमाला, लाहौर से प्रकाशित हुआ ।

लालाजी की जन्म-शताब्दी (1965) के अवसर पर विजयचन्द्र जोशी ने 'लाला लाजपतराय—आटोबायोग्राफिकल राइटिंग्स' शीर्षक से उनकी आत्मकथा का सम्पादन किया तथा दो खण्डों में लालाजी के लेखों तथा भाषणों का संग्रह भी प्रकाशित किया ।

लालाजी सफल पत्रकार भी थे । उन्होंने उर्दू में 'पंजाबी' तथा 'वंदेमातरम्' नामक पत्र निकाले । 1918-20 में उन्होंने न्यूयार्क से 'यंग इण्डिया' नामक एक अंग्रेजी मासिक भी प्रकाशित किया था ।

देश की आर्थिक और वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए उन्होंने पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना 1894 मे की । बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन इसके मुख्य सचिव रहे थे । लालाजी द्वारा स्थापित भारत लोक-सेवक मण्डल (Servants of the People's Society) ने देश के नवजागरण तथा सेवा का अभूतपूर्व कार्य किया है । प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री तथा पं० अलगूराय शास्त्री जैसे देशभक्तों ने लालाजी से प्रेरणा लेकर ही राष्ट्र-सेवा का पाठ पढ़ा था ।

सम्पादकीय

पाँच हजार वर्ष पूर्व आज की ही तरह विश्व के क्षितिज पर भादों की अँधेरी तमिस्रा अपनी निगूढ़ कालिमा के साथ छा गई थी । तब भी भारत में जन था, धन था, शक्ति थी, साहस था, पर एक अकर्मण्यता भी थी जिससे सब कुछ अभिभूत, मोहाच्छन्न तथा तमतावृत्त हो रहा था । महापुरुष तो इस वसुंधरा पर अनेक हुए है किन्तु लोक, नीति और अध्यात्म को समन्वय के सूत्र में गूँथ कर राजनीति, समाज नीति तथा दर्शन के क्षेत्र में क्रान्ति का शंखनाद करने वाले योगेश्वर कृष्ण ही थे ।

परवर्ती काल में कृष्ण के उदात्त तथा महनीय आर्योचित चरित्र को समझने में चाहे लोगों ने अनेक भूलें ही क्यों न की हों, उनके समकालीन तथा अत्यन्त आत्मीय जनों ने उस महाप्राण व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन किया था । सम्राट् युधिष्ठिर उनका सम्मान करते थे तथा उनके परामर्श को सर्वोपरि महत्व देते थे । पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्य जैसे प्रतिपक्ष के लोग भी उन्हें भरपूर आदर देते थे । महाभारत के प्रणेता भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने तो उन्हें धर्म का पर्याय बताते हुए घोषणा की थी–

यतो कृष्णस्ततो धर्मः यतो धर्मस्ततो जय ।

जहाँ कृष्ण हैं वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है वहाँ जय तो निश्चित ही है ।

भगवद्गीता के वक्ता महामति संजय ने जो भविष्यवाणी की थी, उसे समसामयिक लोगों की सहमति प्राप्त थी, क्योंकि उसने सत्य ही कहा था–

यत्र योगेश्वरो कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।18/78

आर्य जीवनकला का सर्वांगीण विकास हमें कृष्ण के पावन चरित्र में दिखाई देता है । जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली । सर्वत्र उनकी अद्भुत मेधा तथा सर्वग्रासिनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं । वे एक ओर महान् राजनीतिज्ञ, क्रान्तिविधाता, धर्म पर आधारित नवीन साम्राज्य के स्रष्टा राष्ट्रपुरुष के रूप में दिखाई पड़ते है तो दूसरी ओर धर्म, अध्यात्म, दर्शन और नीति के सूक्ष्म चिन्तक, विवेचक तथा प्रचारक भी है । उनके समय में भारत देश सुदूर गांधार से लेकर दक्षिण की सह्याद्रि पर्वतमाला तक क्षत्रियों के छोटे-छोटे, स्वतंत्र किन्तु निरकुश राज्यों में विभक्त हो चुका था । उन्हें एकता के सूत्र में पिरोकर समग्र भरतखण्ड को एक सुदृढ राजनीतिक इकाई के रूप में पिरोने वाला कोई नहीं था । एक चक्रवर्ती सम्राट् के

न होने से विभिन्न माण्डलिक राजा नितान्त स्वेच्छाचारी तथा प्रजापीड़क हो गये थे। मथुरा का कस, मगध का जरासंध, चेदिदेश का शिशुपाल तथा हस्तिनापुर के दुर्योधन प्रमुख कौरव सभी दुष्ट, विलासी, ऐश्वर्य-मदिरा में प्रमत्त तथा दुराचारी थे। कृष्ण ने अपनी नीतिमत्ता, कूटनीतिक चातुर्य तथा अपूर्व सूझबूझ से इन सभी अनाचारियों का मूलोच्छेद किया तथा धर्मराज कहलाने वाले अजातशत्रु युधिष्ठिर को आर्यावर्त के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर आर्यों के अखण्ड, चक्रवर्ती, सार्वभौम साम्राज्य को साकार किया।

जिस प्रकार वे नवीन साम्राज्य-निर्माता तथा स्वराज्यस्रष्टा युगपुरुष के रूप मे प्रतिष्ठित हुए उसी प्रकार अध्यात्म तथा तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में भी उनकी प्रवृत्तियाँ चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। सुख-दुःख को समान समझने वाले, लाभ और हानि, जय और पराजय जैसे द्वन्द्वों को एक-सा मानने वाले, अनुद्विग्न, वीतराग तथा जल में रहने वाले कमल पत्र के समान सर्वथा निर्लेप, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को यदि हम साकार रूप में देखना चाहें तो वह कृष्ण से भिन्न अन्य कौन-सा होगा ? प्रवृत्ति और निवृत्ति, श्रेय और प्रेय, ज्ञान और कर्म, ऐहिक और आमुष्मिक (परलोक विषयक) जैसी आपाततः विरोधी दीखने वाली प्रवृत्तियों में अपूर्व सामंजस्य स्थापित कर उन्हे स्वजीवन में चरितार्थ करना कृष्ण जैसे महामानव के लिए ही सम्भव था। उन्होंने धर्म के दोनो लक्ष्यों—अभ्युदय और निःश्रेयस की उपलब्धि की। अतः यह निरपवाद रूप से कहा जा सकता है कि कृष्ण का जीवन आर्य आदर्शों की चरम परिणति है।

समकालीन सामाजिक दुरवस्था, विषमता तथा नष्टप्राय मूल्यों के प्रति भी वे पूर्ण जागरूक थे। उन्होंने पतनोन्मुख समाज को ऊर्ध्वगामी बनाया। स्त्रियों, शूद्रों, बनवासी जनों तथा पीड़ित एव शोषित वर्ग के प्रति उनके हृदय में अशेष संवेदना तथा सहानुभूति थी। गांधारी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि आर्य-कुल ललनाओ को समुचित सम्मान देकर उन्होंने नारी वर्ग की प्रतिष्ठा बढाई। निश्चय ही महाभारत युग में सामाजिक पतन के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। गुण, कर्म तथा स्वभाव पर आश्रित मानी जाने वाली आर्यो की वर्णाश्रम व्यवस्था जन्मना जाति पर आधारित हो चुकी थी। ब्राह्मण वर्ग अपनी स्वभावगत शुचिता, लोकोपकार भावना, त्याग, सहिष्णुता, सम्मान के प्रति निर्लेपता जैसे सद्गुणों को भुलाकर अनेक प्रकार के दूषित भावो को ग्रहण कर चुका था। आचार्य द्रोण जैसे शस्त्र और शास्त्र दोनों में निष्णात ब्राह्मण स्वाभिमान को तिलांजलि दे बैठे थे तथा सब प्रकार के अपमान को सहन करके भी कुरुवंशी राजकुमारो को शिक्षा देकर उदरपूर्ति कर रहे थे। कहाँ तो गुरुकुलों का वह युग, जिसमें महामहिम सम्राटो के राजकुमार भी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आचार्य कुल में जाकर दीर्घकाल तक निवास करते थे और कहाँ महाभारत का यह युग जिसमें कुरुवृद्ध भीष्म के आग्रह (उसे आदेश ही कहना चाहिए) से द्रोणाचार्य ने राजमहल को ही गुरुकुल (अथवा विश्वविद्यालय) का रूप दिया और उसमें शिष्य-शिष्य में भेद उत्पन्न करने वाली जो शिक्षा दी, उसका निकृष्ट फल दुर्योधन के रूप मे प्रकट हुआ। सामाजिक समता के ह्रास के इस युग में क्षत्रिय कुमारों में अपने अभिजात कुलोत्पन्न होने का मिथ्या गर्व पनपा तो उधर तथाकथित हीन कुल में जन्मे कर्ण (वस्तुतः कर्ण तो कुन्ती का कानीन पुत्र था किन्तु उसका पालन अधिरथ नामक एक सारथी (सूत) ने किया

था) को अपने पौरुष को प्रख्यापित करने के लिए कहना पड़ा—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्मः मदायत्तं तु पौरुषम् ॥

मै चाहे सूत हूँ या सूत पुत्र, अथवा अन्य कोई । किसी कुल-विशेष में जन्म लेना यह तो दैव के अधीन है, मेरे पास तो मेरा पौरुष और पराक्रम ही है, जिसे मैं अपना कह सकता हूँ ।

क्षत्रिय कुमारो के मिथ्या गर्व को संतुष्ट करने के लिए ही एकलव्य जैसे शस्त्र विद्या के जिज्ञासु बनवासी बालक को आचार्य द्रोण ने अपना शिष्य बनाने से इन्कार कर दिया । उस युग मे धर्माधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, नीति-अनीति का अन्तर प्राय: लुप्त हो चुका था । समाज में अर्थ की प्रधानता थी और जीविका के लिए किसी भी अधर्म को करने के लिए लोग तैयार रहते थे । यह जानते हुए भी कि कौरवों का पक्ष अधर्म, अन्याय और असत्य पर आश्रित है, भीष्म जैसे प्रज्ञापुरुष ने यह कहने में संकोच नहीं किया—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति मत्वा महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

हे महाराज, पुरुष तो अर्थ का दास होता है, अर्थ किसी का दास नहीं होता । यही जानकर मै कौरवों के साथ बँधा हूँ ।

इन्हीं विषम तथा पीड़ाजनक सामाजिक परिस्थितियों को वासुदेव कृष्ण ने देखा । फलत शोषित, पीड़ित तथा दलित वर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति ने सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया । ताप-शाप-प्रपीड़ित त्रस्त जनों के प्रति उनकी संवेदना नाना रूपो में प्रकट हुई । तभी तो राजसभा में तिरस्कृत और अपमानित कृष्णा (द्रौपदी) को उन्होंने सखी बनाया तथा दुर्योधन के राजसी आतिथ्य को ठुकराकर दासी पुत्र समझे जाने वाले विदुर के घर का भोजन स्वीकार किया । लोकनीति के ज्ञाता होने के कारण अपने इस आचरण का औचित्य प्रतिपादित करते हुए उन्होने कहा—

सम्प्रीति भोज्यान्यन्नानि आपद् भोज्यानि वा पुनः ।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ॥
उद्योग पर्व 91/25

हे राजन्, भोजन करने मे दो हेतु होते हैं । जिससे प्रीति हो उसके यहाँ भोजन करना उचित है अथवा जो विपत्तिग्रस्त होता है वह दूसरे का दिया भोजन ग्रहण करता है । आपका और मेरा तो प्रेम भाव भी नहीं है और न मै आपदा का मारा हूँ जो आपका अन्न ग्रहण करूँ ।

कृष्ण के इस उदात्त स्वरूप एवं चरित्र को शताब्दियों से भारतीय जनता ने विस्मृत कर रखा था । युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय जिस महापुरुष की विनम्रता और शालीनता को हमने विद्वंद् वर्ग के चरण-प्रक्षालन जैसे विनयपूर्ण कृत्य में देखा उसे ही यज्ञारम्भ मे सर्वप्रथम अर्घ्य प्रदान कर सम्पूजित होते हुए भी हम देखते हैं अपने युग के सर्वाधिक वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध

तथा अनुभववृद्ध भीष्म ने जिसकी चरित्र-प्रशस्ति का गान करते हुए कहा—

वेद वेदांग विज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोन्यो ऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमां ।
सन्नति श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥
ऋत्विग्-गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिःप्रियः ।
सर्वमेतद्धृषी केशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युत ॥

सभापर्व 38/19.20.22

वेद और वेदांगो का उन्हें सम्पूर्ण रीति से ज्ञान है, बल में भी वे किसी से कम नहीं हैं । इस मनुष्यलोक में कृष्ण से भिन्न दूसरा कौन विशिष्ट गुणों का आगार होगा । दान-दाक्षिण्य (शिष्टता), शास्त्रज्ञान, वीरता, लज्जाशीलता, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनम्रता, श्री, धृति (धैर्य); तुष्टि आदि सभी गुण तो अच्युत कृष्ण में हैं । एक साथ ही वे ऋत्विक् (यज्ञकर्त्ता), गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा सदृश हमारे प्रिय हैं । इसीलिए हृषीकेश भगवान् कृष्ण हमारे द्वारा सम्मान के पात्र हैं ।

कृष्ण के इस महनीय, निष्पाप तथा निष्कलुष चरित्र की ओर पुनः मानव जाति का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय उन्नीसवीं सदी के महान् धर्माचार्य तथा भारतीय नवजागरण के ज्योतिपुरुष स्वामी दयानन्द को है । उन्होंने स्वरचित ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में कृष्णचरित की श्लाघा करते हुए लिखा—''देखो, श्रीकृष्ण का इतिहास महाभारत मे अत्युत्तम है । उनका गुण-कर्म-स्वभाव आप्त पुरुषों के सदृश है जिसमे कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण ने जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा ।'' स्वामी दयानन्द के ही समकालीन बँगला के साहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने 1886 में महाभारत को आधार बनाकर कृष्णचरित्र शीर्षक एक विवेचनामूलक जीवनचरित लिखा जिसमें भारतोक्त कृष्ण के इतिवृत्त को ही प्रामाणिक तथा विश्वसनीय मानकर पुराणो में वर्णित कृष्ण-प्रसंग को असंगत, बुद्धि तथा युक्ति विरुद्ध फलत. अमान्य ठहराया । कृष्णचरित के समग्र अनुशीलन के पश्चात् बंकिम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे है उसे उन्हीं के शब्दों मे प्रस्तुत किया जाना उचित है—''कृष्ण सर्वगुणसम्पन्न हैं । इनकी सब वृत्तियों का सर्वांग सुन्दर विकास हुआ है । ये सिंहासनासीन होकर भी उदासीन हैं, धनुर्धारी होकर भी धर्मवेत्ता हैं, राजा होकर भी पण्डित है, शक्तिमान् होकर भी प्रेममय हैं । यह वही आदर्श है जिससे युधिष्ठिर ने धर्म सीखा और स्वयं अर्जुन जिसका शिष्य हुआ । जिसके चरित्र के समान महामहिमामण्डित चरित्र मनुष्य-भाषा में कभी वर्णित नहीं हुआ ।'' (कृष्ण चरित्र, उपक्रमणिका)

महान् देशभक्त तथा भारत के स्वाधीनता संग्राम के अग्रणी नायक लाला लाजपतराय ने विगत शताब्दी के अन्त में कृष्णचरित का विश्लेषण करते हुए एक उपयोगी ग्रन्थ उर्दू मे 'योगिराज महात्मा श्रीकृष्ण का जीवनचरित्र' शीर्षक लिखा था । लालाजी का साहित्य मुख्य रूप से उर्दू तथा अंग्रेजी में ही लिखा गया था, परन्तु उनकी उर्दू अरबी तथा फारसी के क्लिष्ट एव अप्रचलित शब्दों से लदी नहीं होती थी । उन्होंने अपनी इस पुस्तक की भूमिका में उर्दू के उस

स्वरूप का समर्थन किया है जो फारसी-अरबी के कठिन शब्दों से बोझिल न हो। ऐसी कठिन उर्दू को उन्होंने मुसलमानी उर्दू की संज्ञा दी थी, जिसका लिखना यद्यपि लालाजी जैसे व्यक्ति के लिए कठिन नहीं था, किन्तु उन्होंने उस गंगा-जमनी (मिली-जुली) उर्दू में ही साहित्य लिखा जो जनसाधारण के लिए बोधगम्य थी। ध्यातव्य है कि पंजाब के आर्यसमाजी लेखकों ने उर्दू की एक ऐसी शैली विकसित कर दी थी जिसमें संस्कृत के तद्भव शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होता है, जिससे उसका हिन्दुई चरित्र उजागर होने लगा था।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने से पहले लालाजी ने कृष्ण विषयक सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन किया था। महाभारत तो कृष्णचरित का प्रमुख उपादान है ही, इसके अतिरिक्त भागवत, हरिवंश, विष्णुपुराण तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि में जहाँ-जहाँ कृष्ण की प्रमुखता से या प्रसगोपात्त स्वल्प चर्चा आई है, लालाजी ने इन सभी ग्रन्थों के प्रासंगिक स्थलो की समुचित पर्यालोचना की थी। उधर अंग्रेजी के कुछ ग्रन्थों से भी उन्होंने सहायता ली जिनका उल्लेख वे ग्रन्थ की प्रस्तावना में करते हैं। मथुरा-क्षेत्र की भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक जानकारी के लिए उन्होंने एफ०एस० ग्राउस की 'मथुरा मेमोयर' नामक पुस्तक से सहायता ली। ग्राउस एक हिन्दी-प्रेमी आई०सी०एस० अधिकारी थे जो मथुरा तथा बुलन्दशहर के जिलाधीश रह चुके थे। उन्होंने दो बंगाली लेखकों की अंग्रेजी पुस्तकों से भी सहायता ली है, जिसकी चर्चा वे अपनी प्रस्तावना में करते हैं। सम्भवत: वे बंकिम-रचित कृष्णचरित्र को नहीं देख सके थे। प्रथम तो लालाजी बँगला नहीं जानते थे और तब तक उसका हिन्दी अनुवाद भी नहीं हुआ था। तथापि अपने विस्तृत अध्ययन, मौलिक विवेचना-कौशल और सर्वोपरि कृष्ण जैसे युगपुरुष के प्रति असामान्य श्रद्धा भाव से ही लालाजी जैसा उत्कृष्ट लेखक इस श्रेष्ठ कृति की रचना कर सका। निश्चय ही कृष्ण के प्रति उनकी यह आस्था, कृष्ण के महामानव होने में उनका प्रगाढ विश्वास तथा पुराण वर्णित कृष्णचरित के प्रति उनकी अनास्था एवं अरुचि का प्रमुख कारण उनके अन्तर्मन में उभरे वे ही विचार थे जो स्वामी दयानन्द की बौद्धिक विरासत ने उन्हें दिये थे। अत: प्रकारान्तर से यही मानना होगा कि कृष्णचरित के अध्ययन और आलोचन में जो सूत्र स्वामी दयानन्द ने दिया था, उसका विस्तार करना ही लालाजी की इस कृति का लक्ष्य रहा है। कालान्तर में आर्यसमाज से जुड़े अन्य लेखकों ने भी कृष्णचरित की विवेचना और मीमांसा उसी शैली में की है जिसे लालाजी ने आदर्श बनाकर प्रस्तुत किया था। गुरुकुल कांगड़ी के भूतपूर्व आचार्य पं० चमूपति का योगेश्वर कृष्ण 2006 वि० में प्रकाशित हुआ तथा इन पंक्तियों के लेखक की कृति श्रीकृष्णचरित प्रथम बार 1958 में प्रकाशित हुई।

लालाजी ने इस कृति को आज से 95 वर्ष पूर्व 6 नवम्बर, 1900 को पूरा किया था। इस पुस्तक का कालान्तर में हिन्दी अनुवाद गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में अंग्रेजी के अध्यापक मास्टर हरिद्वारीसिह 'बेदिल' ने किया था। मास्टर जी का विस्तृत परिचय तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु जो जानकारी मिलती है उससे पता चलता है कि वे उर्दू में काव्य रचना भी करते थे जो उनके 'बेदिल' उपनाम से प्रकट होता है। उन्होंने प्रसिद्ध रूसी लेखक निकोलस नोटोविच की उस पुस्तक का भी हिन्दी में अनुवाद किया था जिसमें ईसा मसीह की कथित भारत-यात्रा

का विवरण दिया गया है । यह पुस्तक 'भारत शिष्य ईसा' नाम से 1914 में प्रकाशित हुई थी । लाला लाजपतराय-रचित कृष्णचरित का यह अनुवाद द्वितीय बार पं० शंकरदत्त शर्मा द्वारा वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद से 1924 में प्रकाशित हुआ था ।

प्रस्तुत संस्करण : लाला लाजपतराय की अमर कृति को एक बार पुनः हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है । आज से लगभग 80 वर्ष पूर्व जब यह अनुवाद हुआ था तो अनुवाद की भाषा में परिष्कार का अभाव था । हमारा प्रयास रहा है कि अनुवाद की भाषा को आद्यन्त परिष्कृत परिमार्जित तथा परिशोधित किया जाये । ऐसा करने से अनुवाद में प्राञ्जलता, प्रासादिकता तथा सहजता आ गई है । किताबघर दिल्ली के संचालक श्री सत्यव्रत शर्मा ने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लाला लाजपतराय द्वारा रचित महापुरुषों के कतिपय जीवनचरितों को संशोधित तथा सुसंस्कृत रूप में पुनः हिन्दी पाठकों के समक्ष लाने का पुरुषार्थ किया है, एतदर्थ वे हम सबके साधुवाद के पात्र हैं । आशा है भारतीय धर्म, संस्कृति तथा जीवनदर्शन के महान् प्रेरणास्रोत योगिराज कृष्ण के इस जीवनचरित को पढ़कर हम सबमें कर्तव्यबोध जागृत होगा ।

—भवानीलाल भारतीय

रत्नाकर, नन्दन वन, जोधपुर
कार्तिक अमावस्या (दीपोत्सव)
2054 वि०

श्रीयुत परमपूज्य महात्मा हंसराजजी भूतपूर्व प्रिंसिपल डी०ए०वी० कॉलेज के कर-कमलों में श्रीयुत लाला लाजपतरायजी लिखित कृष्णचरित (उर्दू भाषा) का हिन्दी अनुवाद सादर समर्पित करता हूँ। जिस भाँति आप सदा से राष्ट्रभाषा हिन्दी के परम हितैषी रहे हैं, उसी भाँति इस भेंट को भी सानुग्रह स्वीकृत कीजिएगा।

आपका कृपापात्र
हरद्वारीसिंह

प्रस्तावना

परमात्मा का कोट्यानुकोटि धन्यवाद है कि मैंने आज अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया, अर्थात् अपने प्रण के पूर्ण करने में इस योग्य हुआ कि इस पुस्तक को अपनी जाति की सेवा में उपस्थित करने में समर्थ हो सका ।

पाठक गण ! सन् 1896 ई० में मैंने शिवाजी के जीवनचरित्र की भूमिका में कृष्ण महाराज के जीवनचरित्र लिखने का प्रण किया था, उसके पश्चात् सन् 1896 व 97 ई० के भयकर अकाल ने इस देश को आ घेरा और अनाथरक्षा के काम से मुझे इतना अवकाश भी प्राप्त न हुआ कि मैं इस पुस्तक की तैयारी के लिए पुस्तको का अवलोकन करता । सन् 1897 ई० के सितम्बर मे बीमारी ने मुझे आ घेरा और अप्रैल सन् 1898 ई० तक पलंग ही मेरे नसीब मे रहा । अपनी बीमारी के अतिरिक्त कई प्रकार के कष्ट और भी आ पडे, जिससे बहुत काल तक पुस्तकावलोकन का अवसर न मिला तो भी सितम्बर सन् 1898 ई० मे मैंने 'महर्षि स्वामी दयानन्द और उनकी शिक्षा' लिखकर आपकी भेंट की । उसके पश्चात् मैं इस पुस्तक की तैयारी मे लगा रहा, सुतराँ आज मै ढाई वर्ष के परिश्रम का फल आपके चरणों में उपस्थित करता हूँ, परन्तु यह नहीं कह सकता कि यह भेंट आपके योग्य है या उस महान् पुरुष की हैसियत और पद के योग्य है जिसका नाम इस पुस्तक के मुखपृष्ट पर लिखा है, तो भी यह कह सकता हूँ कि यदि मेरी इस पुस्तक से आपके चित्त में श्रीकृष्ण की जीवनी के संबध में खोज की इच्छा उत्पन्न होवे और आप स्वयं स्वतंत्र छान-बीन से कृष्ण महाराज की जीवनी की घटनाओं की खोज करे तो मैं समझूँगा कि मेरा परिश्रम सफल हुआ और यदि इस पुस्तक से किसी आर्य समुदाय को यह निश्चय हो जाए कि जो लांछन श्रीकृष्ण की जीवनी पर लगाये जाते है वह निर्मूल, असत्य और झूठे है तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा ।

मैंने भूमिका में उन पुस्तको के नाम लिख दिये हैं जिनसे मैंने इस पुस्तक के लिए घटना सबधी बातों को चुना है । परन्तु उन पुस्तकों के अतिरिक्त मैंने दो बङ्गाली महाशयों द्वारा लिखित पुस्तकों से भी कुछ लाभ उठाया है और इसलिए मेरा कर्तव्य है कि उन्हें धन्यवाद दूँ ! मैने इस पुस्तक के लिखने के लिए (1) बाबू बलराम मलिक की पुस्तक कृष्ण और कृष्णाइज्म (2) बाबू धीरेन्द्रनाथ पाल की 'लाइफ़ ऑफ श्रीकृष्ण' को पढ़ा और (3) मिस्टर ग्राउज[1] साहब की 'मथुरा मेमायर' (Memoir) को भी कहीं-कहीं से देखा है । मेरी पुस्तक का प्रथम अध्याय (अर्थात् कृष्ण महाराज की जन्मभूमि) तो पुस्तक सं० 3 पर अधिकतर निर्भर है । पुस्तक स०

1 पूरा नाम एफ०एस० ग्राउस--मथुरा के जिलाधीश थे । हिन्दी-प्रेमी इस विदेशी विद्वान् ने रामचरितमानस का हिन्दी अनुवाद किया है

2 से मैंने अधिक सहायता ली है, परन्तु न तो मैंने उसकी प्रणाली का अनुकरण ही किया और न उससे चुनी हुई घटनाओं पर भरोसा ही किया है । साधारणतः मैंने सब घटनाओं को विष्णु पुराण, महाभारत और श्रीमद्भागवत से पड़ताल करके लिखा है । यदि किसी जगह केवल किसी दूसरे लेखक के विश्वास पर कोई घटना का उल्लेख किया है तो फुटनोट में उन महाशय का नाम लिख दिया है । भगवद्गीता के श्लोको के भाष्य के लिए मैंने साधारणतः मिसेज एनी बेसेन्ट के भाष्य से लाभ उठाया है, परन्तु हर एक श्लोक के भाष्य को मैंने असल पुस्तक से मिलान कर लिया है और जहाँ भाष्य मे न्यूनाधिक परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ पर किया है ।

इसके अतिरिक्त शायद इस बात की भी आवश्यकता है कि मैं कुछ शब्द अपनी भाषा व लेख के संबंध में कहूँ । मैंने कई बार यह शिकायत सुनी है कि आर्यसामाजिक उर्दू साधारणत और मेरी उर्दू विशेषतः खिचड़ी होती है । एक मुसलमान मित्र ने तो यह कहा कि हमने उर्दू को संयुक्त बना दिया है, परन्तु असल बात यह है कि आर्यसमाज की स्थिति से पहले उर्दू भाषा में हिन्दू धर्म की पुस्तके बहुत थोड़ी थी क्योंकि संस्कृत व हिन्दी जानने वाले हिन्दुओ ने कभी अपनी धार्मिक पुस्तकों को उर्दू में लिखने का उद्योग नहीं किया । यदि किया भी तो केवल उर्दू (फारसी) अक्षरों का प्रयोग किया । आर्यसमाज ने इस आवश्यकता को अनुभव किया कि पजाब व संयुक्त प्रांत[1] की शिक्षितमंडली के लिए अपनी धर्म पुस्तको को उर्दू भाषा मे तैयार करके उर्दू अक्षरों में प्रकाशित किया जाए । मुसलमानों ने उर्दू भाषा में फारसी व अरबी के शब्दो का प्रयोग किया था, क्योंकि साधारणतः उर्दू के लेखक फारसी व अरबी से भिज्ञ थे और उन लोगों को मुसलमानों के धार्मिक विचारों को प्रकट करने के लिए फारसी व अरबी के शब्दो के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती थी, लेकिन जब अँगरेजी सरकार ने पंजाब और संयुक्त प्रांत मे उर्दू अक्षरों को सरकारी अदालतों में प्रचलित किया और शिक्षा का प्रचार भी इन्हीं अक्षरो मे प्रचलित हुआ तो इन अक्षरों के जानने वाले हिन्दुओं की आवश्यकता को-पूरा करने के लिए यह आवश्यक हुआ कि उन अक्षरों में ऐसी पुस्तकें तैयार की जाएँ, जिनमें हिन्दू धर्म की शिक्षा हो । ये पुस्तकें ऐसे लोगों को बनानी पड़ीं जिन्होंने सरकारी स्कूलों में साधारण उर्दू, फारसी की शिक्षा पाई थी । जब उन्होंने अपने धर्म की छानबीन में या धार्मिक शिक्षा में संस्कृत और हिन्दी की पुस्तकों का अवलोकन किया और उन विषयों पर भाषण या व्याख्यान सुना तो उनकी ज़ुबान पर बहुत-से हिन्दी व संस्कृत के शब्द चढ़ गये, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने भाषणो मे उन्ही शब्दों का प्रयोग करने लगे । यहाँ तक कि लेख इत्यादि मे भी उनके प्रयोग से न रुक सके और उनकी उर्दू एक विशेष प्रकार की उर्दू बन गई जिसमें यदि फारसी व अरबी के शब्द पाये जाते है तो साथ ही हिन्दी व संस्कृत के शब्द भी मिलते है । इसके अतिरिक्त मै नही समझ सकता कि किसी मनुष्य को इस उर्दू पर क्या आक्षेप हो सकता है ? उर्दू वास्तव मे भारतवासियों की भाषा का नाम है, बल्कि किसी-किसी अवसर पर उर्दू और हिन्दुस्तानी शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । मुसलमानी राज्य में मुसलमानी साहित्य का जोर था और

1 वर्तमान उत्तर प्रदेश

इसलिए पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों की भाषा में फारसी और अरबी के शब्दों की अधिकता थी। जब कभी उनको गूढ़ विषयों के प्रकट करने के लिए विशेष शब्दों की आवश्यकता पड़ती थी तो वे मुसलमानी साहित्य से सहायता लेते थे। जब अँगरेजी राज्य हुआ तो उस हिन्दुस्तानी भाषा में अँगरेजी के शब्द आने आरम्भ हुए और इसी तरह हिन्दुओं की भाषा मे संस्कृत व हिन्दी के शब्दों का प्रचलन बढ़ने लगा। कोई कारण नहीं मालूम होता कि क्यों हिन्दू लोग अपने धार्मिक विचारों को प्रकट करने के लिए अब मुसलमानी साहित्य की भाषा का प्रयोग करें और हिन्दी व संस्कृत के शब्दों के स्थान में फारसी व अरबी के शब्द तलाश करें। भाषा वह है जो बोली जाए। बस, जब समय के हेर-फेर से हिन्दुओं की बोलचाल मे अँगरेजी, हिन्दी व सस्कृत के शब्दों का चलन हो गया तो कोई कारण मालूम नही होता, कि वे लेख भी उसी भाषा में न लिखे जाएँ जिसको वे बोलते हैं। भेद इतना ही है कि अँगरेजी सरकार फारसी के अक्षरों को हिन्दुस्तानी भाषा में लिखने के लिए प्रयोग करती है और सरकारी स्कूलों में इस हिन्दुस्तानी भाषा की शिक्षा फारसी अक्षरों मे दी जाती है। इस कारण लाचारी से उन्हें फारसी अक्षरों का प्रयोग करना पड़ता है। हम प्रामाणिक उर्दू जानने वाले विद्वानो के लेखों मे हिन्दी के शब्दों का प्रयोग बता सकते है। तथ्य तो यह है कि हिन्दुओं के विचारों को प्रकट करते हुए हिन्दी शब्दो का प्रयोग आवश्यक है (दिखो मौलाना मौलवी अल्ताफ हुसेन हाली की मनाजाते वेवा) बल्कि कुछ विद्वान् तो असल उर्दू उसको कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी शब्द बहुत कम हो या बिलकुल न हों। उर्दू में से फारसी व अरबी के शब्द निकाल दिये जाएँ तो शुद्ध हिन्दी रह जाती है। भेद इतना है कि जो शब्द हिन्दी में साधारणत: प्रयोग में नहीं आते वे मुसलमान महाशयों को बुरे मालूम होते हैं और वे उनको उर्दू नहीं कहते, परन्तु जो शब्द साधारण तौर पर प्रयोग में आते है उनको वह उर्दू समझते है। अत जो हिन्दू अपने स्वजातीय भाइयो के लिए ऐसी पुस्तकें लिखते है जिनमें उनके धार्मिक या जातीय विचार या अवस्थाओं का उल्लेख है उनमें हिन्दी व संस्कृत के शब्दों का प्रयोग अनुचित नहीं है। कैसे सम्भव है कि कोई हिन्दू हिन्दुओं के लिए पुस्तक लिखता हुआ कृष्ण, अर्जुन व युधिष्ठिर के व्याख्यानों का अनुवाद उर्दू भाषा में करे और क्लिष्ट धार्मिक विचारो के प्रकट करने के लिए फारसी व अरबी के कठिन शब्द तलाश करे। हिन्दू स्त्रियों के व्याख्यानों का अनुवाद करता हुआ फारसी व अरबी के शब्दो का प्रयोग तो बहुत ही बुरा मालूम होता है। ऊपर लिखी बातों से हमारे विचार में हमारी भाषा पर जो आक्षेप किया जाता है वह हमको उपयुक्त नहीं लगता। यदि उद्योग करें तो हम मुसलमानी उर्दू में भी अपने विचारों को प्रकट कर सकते हैं, परन्तु हमें ऐसा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और न इसमे कुछ लाभ ही प्रतीत होता है। वरंच इसके विपरीत यदि हम ऐसा करें तो बहुत-से हिन्दू भाई हमारे लेखों से पूरा लाभ भी न उठा सकेंगे। इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट है कि पुस्तकें लिखना और उनसे द्रव्य कमाना या केवल भाषा का लालित्य दिखाना न तो हमारा पेशा है और न हमारा उद्देश्य है। हम तो अवकाश के समय अपने विचारो को इस अभिप्राय से प्रस्तुत करते हैं कि जिन लोगों तक हम अपने विचारों को व्याख्यानो द्वारा नहीं पहुँचा सकते उन तक अपने विचारों को लेख द्वारा पहुँचाएँ। यदि हम उस समय

को जो बहुत कम होता है, उर्दू भाषा के लालित्य तथा उसमें अपनी योग्यता व विद्वत्ता दिखाने मे खर्च करें, तो शायद हमसे कुछ भी न बन सकेगा ।

तथ्य तो यह है कि भारतवर्ष की तमाम देशी भाषाओं में इस समय परिवर्तन हो रहा है । इनमें नये-नये विचारों को प्रकट किये जाने के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं के आश्रय की आवश्यकता है । किसी तरह भी यह नहीं हो सकता कि लोग उर्दू, फ़ारसी की पवित्रता को स्थिर रखने के लिए उस सुगम प्रणाली को हाथ से छोड़ दें और स्वदेशी साहित्य की उन्नति को रोक दें ।

इस पुस्तक को जब लिखना आरम्भ किया तो प्रथम यह विचार सामने आया था कि मुहावरे की उर्दू लिखी जाए, परन्तु फिर हमने देखा कि प्रथम तो मुहावरे की उर्दू जानने का दावा हम नही कर सकते और दूसरे हमें हिन्दी शब्दों को छोड़ने के लिए बहुत उद्योग करना पड़ेगा, जिसमे हमारा बहुत समय लगेगा । इसलिए हमने इस उद्योग को छोड़ दिया और जो शब्द हमारी लेखनी में आये उन्हें ही लेखबद्ध किया ।

अन्त में हम कुछ शब्द अपनी पुस्तक के मूल्य के संबंध में प्रकट कर देना चाहते है, क्योंकि हमारे बहुत-से मित्रों को यह शिकायत रहती है कि हम अपनी साधारण पुस्तकों को बहुत महँगी करके बेचते है । प्रथम तो हम अपने मित्रों को यह बताना चाहते है कि हमारी सब पुस्तकों का मूल्य अन्य भाषा अर्थात् बंगाली, अँगरेजी या उर्दू में छपी पुस्तकों से कम है । दूसरे यह कि हमारी अच्छी से अच्छी पुस्तक में अभी तक हमको हानि रही है । पूरी लागत भी अभी वसूल नहीं हो पाई । यद्यपि हमारा विश्वास है कि हमारी पुस्तक को हजारों मनुष्यों ने पढ़ा है तथापि अब तक एक भी संस्करण का समाप्त न होना भी इनके प्रति सर्वसाधारण की कदर को जाहिर करता है । अत: ऐसी अवस्था में यह आशा रखना उचित नहीं है कि समय और मस्तिष्क के परिश्रम के अतिरिक्त हम पुस्तकों के छपाने के लिए अपने पास से धन भी खर्च करे । इस विषय में पंजाब की हिन्दू जनता को बंगाल की जनता या मुसलमान महाशयो से कुछ शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में मैं यह तुच्छ भेट अपनी जाति की सेवा में समर्पित करता हूँ ।

लाहौर
6-11-1900

—लाजपतराय

भूमिका

ससार में कौन-सी ऐसी जाति है जिसने वीरों की देवता के तुल्य वंदना नहीं की और जिन्हें सृष्टि मे एक साधारण जीवधारी विचार कर भी सृष्टिकर्ता का उच्चासन नहीं प्रदान किया । मनुष्य मे यह बात स्वाभाविक है कि वह अपने से श्रेष्ठ शक्ति वा कुशलता की ओर झुकता है और जब वह किसी पुरुष-विशेष को अपने से बढ़कर योग्य देखता है और उसकी योग्यता या कुशलता के यथोचित विवेचन करने में अपने को असमर्थ देखता है तथा अपने अंतःकरण को उसकी महान् शक्ति से आकर्षित पाता है, तो वह स्वतः उस पुरुष-विशेष को ऐसा आदिपुरुष मानने लगता है, जो अपने गुण और लक्षण में एक है, और जिसका न कोई उत्पन्न करने वाला है और न सहार ही कर सकता है । अन्तर केवल इतना ही है कि शिक्षित और धार्मिक जातियाँ (यद्यपि इनका सत्कार, पूजन के दरजे से कम नहीं होता) इन पुरुषों में और उनके उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर में भेद की सीमा को मिटाने नहीं देतीं, परन्तु जो जातियाँ अनपढ़ होने के कारण अज्ञानरूपी अंधकार मे फँसी हैं, उन्हें इसका ज्ञान या भेदाभेद का विचार दृष्टिगोचर रखना किसी प्रकार संभव नहीं—यों तो मुख से सब कुछ कह दें और उच्च स्वर से मानव-पूजन की निन्दा करे, परन्तु यथार्थ में कोई भी इस दोष से बचा हुआ प्रतीत नहीं होता । इस सृष्टि की सारी जातियाँ एक-न-एक प्रकार से मानव-पूजक हैं । संसार की कोई विद्या या शिक्षण-पद्धति ऐसी नही जो इस विषय की शिक्षा न देती हो । इसकी पुष्टि मे उन जातियो के सम्मुख बहुत-से दृष्टान्त उपस्थित किये जाते है, जिन्हें इस बात का गर्व है कि हम तो एक परमेश्वर के उपासक है । अँगरेज़ी भाषा का प्रसिद्ध लेखक मि० कार्लाइल जिसने लालित्ययुक्त शब्दजटित हार पिरोकर उनमें अपने पवित्र विचारों के अमूल्य नग ज़ड़े है, जिसने शब्द रूपी मोतियों को इस प्रकार लालित्य रूपी संबंध में संगठित किया है कि यह पृथ्वी की तह में से खोदे हुए हीरे और लालों से अधिक मूल्यवान् और प्रकाशमान प्रकट होते हैं, अपने उस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'हीरो वर्शिप' मे लिखता है कि "संसार के महापुरुष वास्तव में उस महान् अग्नि की एक चिंगारी के सदृश है जिसके प्रकाश से यह संसार प्रकाशमान है, और जिसके ताप ने खनिज, उद्‌भिज तथा मनुष्य, पशु आदि समस्त संसार स्थित है । जिसकी दाह मानों दया की वर्षा है और जिसकी ठडक मानों हृदय में उमंग, उत्तेजना और आकर्षण उत्पन्न करने वाली है ।"

2. वैदिक महापुरुष

उन्नीसवीं शताब्दी के इस अँगरेजी विद्वान् ने जो भाव इस पुस्तक में प्रकट किये हैं, वे लाखों वर्ष पूर्व आर्यावर्त में आर्य ऋषियों द्वारा उनकी पुस्तकों में प्रकाशित हो चुके है—संस्कृत भाषा

के प्राचीन ग्रन्थों मे 'अग्नि' शब्द का प्रयोग (जिसका प्रयोग वैदिक ग्रन्थों में अद्वैत परमात्मा के लिए हुआ है) विद्वान् ऋषि, मुनि, आप्त पुरुषों और महात्माओं के लिए हुआ है । यह भाव ऐसा सर्वव्यापक है मानों प्रत्येक भाषा और प्रत्येक देशवासी इसी रंग में रँगा है । संस्कृत भाषा मे देव या देवता परमात्मा के लिए आता है । परन्तु महान् पुरुषों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है । अँगरेजी में गॉड के अर्थ परमेश्वर के है; परन्तु उसी 'गॉड' शब्द का बहुवचन 'गॉड्स' देवताओं के लिए आता है । मुसलमान मतावलम्बी हजरत मुहम्मद को नूरे इलाही कहते है । उधर ईसाई हजरत मसीह को 'खुदा का बेटा' मानते हैं । बौद्धमत वाले महात्मा बुद्ध को 'लार्ड' कहके पुकारते हैं । इसी प्रकार आर्यगण श्रीराम और श्रीकृष्ण को अवतार कहते है । हिन्दुओं में आप्त पुरुष, ऋषि, मुनि और विद्वानों के आदर और पूजन की परिपाटी वैदिक समय से चली आती है । वेदमंत्रों मे स्थान-स्थान पर आज्ञा दी गई है कि तुम धर्मात्मा, और आप्त पुरुषों का सत्कार करो और उनकी पूजा को अपना परम धर्म समझो । आर्य लोगो के नित्य कर्म में भी विद्वानों और आप्त पुरुषों के पूजन को एक मुख्य कर्तव्य कहा है और हर एक यज्ञ और उत्सव पर इसका करना आवश्यक समझा है । ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद् और दूसरे आर्य ग्रंथो मे इस विषय की पूरी-पूरी विवेचना की गई है । पर किसी वैदिक ग्रंथ में किसी महात्मा या आप्त पुरुष को परमात्मा का पद नहीं दिया है ।

3. अवतारों की यथार्थता

आर्यावर्त में सबसे पहले बौद्ध धर्म वालों की शिक्षा से लोगों को परमात्मा के अस्तित्व में महान् शंका उत्पन्न हुई और इस पवित्र भूमि के रहने वाले परमात्मा की उपासना के उच्चासन से गिरकर मानव-पूजन के अंधकार रूपी पाश में आ फँसे । उपासना की यह परिपाटी जनसाधारण मे ऐसी प्रचलित हुई कि वैदिक धर्मोपदेशकों ने भी बौद्ध धर्मानुयायी बनना अपने लिए हितावह विचारा । ब्राह्मणो ने महात्मा बुद्ध के स्थान में श्रीरामचंद्र और श्रीकृष्ण को देवता बनाकर अवतारो की पदवी दी । धीरे-धीरे इस भाव ने यहाँ तक जोर पकड़ा कि कुछ काल पश्चात् पौराणिक भाषा के समस्त ग्रंथो में इसी की चर्चा दिखाई देने लगी और चारों ओर अवतार ही अवतार प्रकट होने लगे । कवियों ने जो महान् पुरुषों के जीवन लिखने में अपने उच्च विचारों को प्रकट किया था और खगोल विद्या पढ़कर तथा सब प्राकृतिक दृश्यों को देखकर काव्यबद्ध करने मे जो समय व्यतीत किया था, उन कविजनों के परिश्रम और संस्कृत विद्या को पौराणिक समय के धार्मिक ग्रंथ रचयिताओं ने समयानुकूल परिवर्तित कर दिया ।

बस फिर क्या था, विद्या तथा धर्म के तत्त्ववेत्ताओं ने इस परिपाटी की ऐसी चाल चला दी कि लोक-परलोक के प्राय: सभी सिद्धान्त चाहे अच्छे हों या बुरे, परमेश्वरकृत कार्यो मे सम्मिलित कर लिए गये और जनसाधारण को कारण और कर्त्ता में भेदाभेद का विचार न रहा । महान् पुरुषों के जीवनचरित इस साँचे में ढाले गये, कि दूसरी जाति वाले उनको मिथ्या, बनावटी और अपवित्र समझने लगे ।

4. श्रीकृष्ण

कवियों के आत्यन्तिक प्रेम की उमंग से उत्पन्न मानसिक भावों की चंचलता और विश्वास की निर्बलता ने जो अपमान और अन्याय श्रीकृष्ण महाराज के साथ किया है उसका दूसरा दृष्टान्त किसी भाषा में नहीं दिखाई देता—यद्यपि श्री तुलसीदासजी ने अपनी भक्ति की तरंग में श्रीरामचंद्रजी पर भी वैसे ही आक्षेप किये है, परन्तु उन्होंने उनको उस दर्जे तक नहीं पहुँचाया है जहॉ तक पौराणिक साहित्य वालों ने श्रीकृष्ण को पहुँचा दिया है। इसका कारण यह जान पडता है कि श्रीरामचंद्र को श्रीकृष्ण के समान उपदेशक की उपाधि नहीं दी गई। श्रीराम को उनकी विमाता कैकेयी ने अपनी ईर्ष्या और द्वेष से वर बना दिया। इसलिए कवियों ने भी पितृभक्ति और भ्रातृस्नेह का मुकुट उनके माथे पर रख दिया। परन्तु यह मुकुट उसके मस्तक पर अधिक शोभायमान होता है जो प्रत्येक प्रकार से धार्मिक जीवन का आदर्श हो। अर्थात् शेष वस्त्र भी ऐसे उपयुक्त होने चाहिए जिससे मुकुट का सौंदर्य भली प्रकार से प्रकाशित हो। श्रीराम का धार्मिक जीवन यद्यपि एक आदर्श स्वरूप है, किन्तु इनके और श्रीकृष्ण के धार्मिक जीवन मे बहुत अन्तर है। श्रीकृष्ण जैसे सच्चे प्रेम, रसिकता और वीरता में आदर्श माने जाते है वैसे ही सच्चे धर्मोपदेशक भी। उनका जन्म ऐसे समय में हुआ जब वैदिक धर्म का बेड़ा मिथ्या वैराग्य और दर्शन के भँवर में घूमता हुआ एक ओर बहा जा रहा था। धर्म अपने यथोचित स्थान से गिरा दीख पड़ता था, कभी मिथ्या वैराग्य और कभी शुष्क भ्रांतिमय दर्शन का पलडा भारी हो जाता था। इनको ऐसे समय मे धर्मोपदेश करना पड़ा था, अतएव इनका जीवन धर्मोपदेशक का एक उच्च आदर्श था और इसलिए हम देखते है कि भारतवर्ष में कदाचित् एक भी पुरुष ऐसा नहीं, जिस पर श्रीकृष्ण की शिक्षा या उपदेश का कुछ असर न पड़ा हो—सभी श्रीकृष्ण के नाम की दुहाई देते हैं और उनके वचन को प्रमाण मानते हैं। हमारा यह कथन अत्युक्ति नही है कि भारत का धार्मिक आकाश इस समय भी श्रीकृष्ण के धर्मोपदेशों से प्रकाशमय दीख रहा है।

5. बीस वर्ष पहले श्रीकृष्ण के बारे में लोग क्या विचारते थे ?

अभी बीस वर्ष नहीं वीते जब हम सरकारी पाठशालाओं में शिक्षा पाते थे, उस समय श्रीकृष्ण उन तमाम अपवित्र बातों का कर्त्ता माने जाते थे जो कृष्णलीला या रासलीला में दिखाई जाती है। उस समय श्रीकृष्ण हमारी दृष्टि में तमाशबीन, विषयी, और धूर्त दीख पड़ते थे और हम विचारते थे कि भारतवासी मात्र की सामाजिक निर्बलता इन्हीं की अश्लील शिक्षा का फल है। आर्य धर्म के विपक्षियों ने श्रीकृष्ण के विषय में ऐसी-ऐसी गप्पें उड़ा रखी थीं जिससे हमारे हृदय मे उनके लिए सम्मान के भाव का उदय होना तो दूर रहा हम उनके नाम से दूसरों के सम्मुख अपने को लज्जित अनुभव करते थे और भीतर ही भीतर उस पवित्रात्मा के नाम से घृणा करने लग गये थे। परन्तु जब पाठशाला से छुट्टी मिली, मुल्लाओं के पजे से जान बची, सकीर्ण और अंधकारमय कोठरी से निकलकर प्रकाशमय मैदान में आये तथा वहाँ ज्ञान रूपी वायु का झोका लगा तो दिमाग में एक विलक्षण परिवर्तन का संचार होने लगा।

6. मानसिक भावों में परिवर्तन

इस संकीर्णता से निकलकर बाहर मैदान में आते ही मानसिक शक्तियाँ कुछ ऐसी विस्तृत हुईं कि वे गूढ़ और तात्त्विक विषयों के मनन की ओर झुकने लगी और झट मेरे कान मे भनक पड़ी—अरे, एक ओर तो श्रीकृष्णचंद्र के नाम के साथ ऐसी अश्लील बाते जोड़ी जाती हैं, उधर उन्हीं को उस जगत्प्रसिद्ध ग्रंथ 'गीता' का रचयिता कहा जाता है । यह पुस्तक अपने विषय की गूढ़ता, सच्चे उपदेश, भाषा की सरलता, भक्ति और प्रेम की दृष्टि से संसार के मनुष्यकृत ग्रथो में अद्वितीय है, जिसकी अलौकिक लेखप्रणाली अपना आदर्श आप ही कही जा सकती है । कानों में यह भनक पड़नी थी कि साथ ही किसी ने उत्तर दिया—जो नीति और आध्यात्मिक विद्या का ऐसा उपदेशक हो वह ऐसा तमाशबीन, विषयी और धूर्त नहीं हो सकता जैसा लोग कृष्णलीला में दर्शाते है । हमारे हृदय में अभी इस भाव का अंकुर मात्र ही था और अभी भली भाँति जड़ नहीं पकड़ सका था कि एक दूसरी भनक सुनाई दी और वह यह थी कि श्रीकृष्णचन्द्र पर विषयी होने का जो कलंक लगाते हैं वह केवल कवियों का हस्तक्षेप है । इनको किसी प्रकार वास्तविक घटना नहीं कह सकते । फिर ऐसे प्रमाण पाये जाते है जिससे सिद्ध होता है कि इन लोगों (कवियों) ने अपनी इच्छानुकूल उन्हे अपना लक्ष्य बना लिया है । निदान यह भाव ऐसे परिपक्व होते गये कि कुछ कालोपरान्त उनके हृदय पर श्रीकृष्ण की बुद्धिमत्ता और नीति ने अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया ।

अब वह समय आ पहुँचा है जब कोई शिक्षित मनुष्य इस बात पर विश्वास नहीं करता कि श्रीकृष्ण के आचरण वास्तव में वैसे ही थे, जैसा कृष्णलीला में दिखलाते हैं । धर्म-विषयक चाहे परस्पर कितना ही विरोध हो, पर शिक्षित मण्डली में अब एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं रहा जो उनके नाम के साथ उन निर्लज्ज बातो को मिश्रित समझता हो, जो अशिक्षित मण्डली अब तक उनके माथे मँढ़ती है । पुरानी फैशन के पौराणिक धर्मनिष्ठ वाले भी इस यत्न मे है कि श्रीमद्भागवत मे से प्रेम और भक्ति का निचोड़ निकाले और उससे यह सिद्ध करें कि उनकी मोटी बातों की तह मे पवित्र प्रेम और अमृत रूपी भक्ति के अमूल्य रत्न दबे पड़े हैं ।

इस प्रकार हरएक पुरुष इस अनुसन्धान में लगा है कि उसकी तह से दुर्लभ और अमूल्य रत्न खोज निकालें और उस महात्मा के जीवन की घटनाओ को इधर-उधर से एकत्र करके जीवनचरित के रूप में प्रकाशित करे । यह बात प्रमाणित है कि पूर्व काल में जीवनचरित लिखने की परिपाटी न थी इसी से श्रीकृष्ण का कोई जीवनवृत्तान्त हमारे साहित्य में मौजूद नहीं है । इसलिए उनके जीवन की कहानी क्रमानुसार लिखना मानो उन कवियों के हस्तक्षेपों और विश्वासो के संग्रह से उन वास्तविक घटनाओं का सार निकालकर अलग करना है, जिनको हम युक्तिसगत कह सकें और जिनके क्रमानुसार संग्रह को हम जीवनचरित की पदवी दे सके ।

7. पुराणों की प्राचीनता

श्रीकृष्ण के नाम से जितनी घटनाएँ जनसाधारण में प्रचलित है उन सबके कारण पुराण हैं और हिन्दू धर्म ने इन्हे उनके ही प्रमाण के अनुसार सच्चा मान लिया है इसलिए सबसे पहले यह

अनुसन्धान करना उचित होगा कि इन पुराणों को कहाँ तक ऐतिहासिक होने का गौरव प्राप्त है या उनके लेख कहाँ तक विश्वास-योग्य है ?

(अ) प्राचीन आर्य जाति ऐतिहासिक विद्या से अनभिज्ञ नहीं थी

अपनी सम्मति स्पष्ट रूप से प्रकट करने से पूर्व एक बात कह देना आवश्यक है । हम इस बात के मानने वाले नहीं हैं कि प्राचीन काल में यद्यपि आर्य जाति विद्या, सभ्यता और दर्शन-शास्त्र में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी और सब शिल्प विद्या आदि का वर्णन संस्कृत साहित्य मे अब तक पाया जाता है, परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वह ऐतिहासिक विद्या से पूर्ण अनभिज्ञ थी और उसमे न इतिहास पढ़ने की रुचि थी और न लिखने की परिपाटी ।

वास्तविक बात यह है कि संस्कृत साहित्य की वर्तमान दशा को देखकर हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन आर्य लोग अमुक-अमुक विद्या और शास्त्र में निपुण थे, पर निर्णयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि वे उनके अतिरिक्त अमुक विद्या से निरे अनभिज्ञ थे । प्राचीन आर्य सभ्यता को इतना अधिक समय व्यतीत हो गया है कि उसका यथार्थ अनुमान करना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है । फिर इसी अन्तर में यहाँ बहुत-से परिवर्तन हुए हैं इसलिए किसी विद्या-विशेष के ग्रंथों के न मिलने से यह परिणाम निकाल लेना कि पुराने आर्य लोग उस विद्या से अनभिज्ञ थे, युक्तिसंगत नहीं । परमेश्वर जाने कितने अमूल्य रत्न पुरानी इमारतों के खंडहरो में दबे पड़े है और कितने तो भूमि में ऐसे समा गये हैं कि अब उनके अवशेषो के रूप मे दर्शन होना दुर्लभ है और शायद अभी बहुत-से ऐसे भी है जो ब्राह्मणों के बस्तों मे पड़े सड रहे है । उन बेचारों को यह भी ज्ञात नहीं कि इन फटे-पुराने जीर्ण ग्रंथों में विद्यमान कैसे उच्चतम भाव नष्ट हो रहे हैं, जिनको जानने के लिए आधुनिक शिक्षित संसार लाखों रुपये खर्च करने के लिए उद्यत है । प्राचीन आर्य सभ्यता के विषय में अनुसंधान आरंभ हो गया है और लोग इन सब रत्नों को खोदकर निकाल रहे हैं । ऐसी अवस्था में निर्णय सहित यह कहना असम्भव प्रतीत होता है कि प्राचीन आर्य जाति अमुक विद्या से अनभिज्ञ थी । इसलिए हम पुनः यही कहते है कि वर्तमान साहित्य को देखकर कभी यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि प्राचीन आर्य इतिहास विद्या से अनभिज्ञ थे । हमारे साहित्य मे अभी ऐसे प्रमाण मौजूद हैं जिनसे यह परिणाम निकाल सकते हैं कि प्राचीन समय में इतिहास का पढ़ना और लिखना विशेष रूप से गौरव की दृष्टि से देखा जाता था और विद्यारसिको की एक विशेष मण्डली का यही काम था कि राजा और महाराजाओं के दरबार में प्राचीन कथाओ को सुनाया करें ।

प्राचीन ग्रंथों, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और पौराणिक समय के साहित्य मे इस विषय के अनेक प्रमाण उपस्थित है । वैदिक साहित्य में भी जहाँ-जहाँ भिन्न-भिन्न विद्याओं और शास्त्रों का वर्णन किया है वहाँ पुराण और इतिहास शब्द भी मिलता है ।[1] इससे यह परिणाम निकलता है कि उस समय पुराण और इतिहास एक पृथक् लेखन विधा का नाम था जिसे आजकल ऐतिहासिक साहित्य कहते है । प्रमाण के लिए हम यहाँ कुछ वाक्य उद्धृत करते है ।

---

1 अथर्ववेद 15 6/4

छान्दोग्योपनिषद् मे, जो दस उपनिषदों के अन्तर्गत है और जिसे श्री स्वामी शंकराचार्य, श्री स्वामी दयानन्द और अन्य विद्वानों ने प्राचीन माना है, एक स्थान पर भिन्न-भिन्न विद्याओ का वर्णन करते हुए इस प्रकार का लेख है—

स होवाच । ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं
सामवेदमाथर्वणचतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम् ।[1]

(1) अर्थात् हे भगवन् ! मैं ऋग्, यजुः, साम और अथर्व को जानता हूँ और इसके अतिरिक्त इतिहास और पुराण से भी भिज्ञ हूँ ।

(2) एक स्थान पर शतपथ ब्राह्मण (14-6-10-6) में कहा गया है—

ऋग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोका· सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यातानि ॥

अर्थ—ऋग्, यजुः, साम अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, उपनिषद्, सूत्र, श्लोक और उनके व्याख्यान आदि ।

(3) तैत्तिरीय आरण्यक में दूसरे आरण्यक के नवें श्लोक में लिखा है—

ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः ।

अर्थात्—वेद, इतिहास, पुराण, गाथा आदि ।

(4) इसी प्रकार मनुस्मृति में तीसरे अध्याय के 232वें श्लोक[2] में भी आख्यान, इतिहास और पुराण शब्द कई स्थान पर आये है । रामायण, महाभारत और पुराणों के पढ़ने से विदित होता है कि पुराकाल में इतिहासवेत्ताओं और इतिहासलेखकों के अतिरिक्त एक ऐसी मंडली होती थी जिनका कर्तव्य यही होता था कि वे राजदरबार में प्राचीन घटनाओ और राजा-महाराजाओ तथा वीर योद्धागणों के चरित्र सुनाया करें । महाभारत में स्थान-स्थान पर आया है कि सूत महाराज ने अमुक-अमुक वृत्तान्त वर्णन किया ।

(5) संस्कृत का प्रसिद्ध कोशप्रणेता अमरसिंह पुराण शब्द की व्याख्या करता हुआ कहता है कि पुराण के पाँच लक्षण हैं । यों कहिये कि पुराणों में पाँच प्रकार के विषय होते हैं ।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

अर्थात्—सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन, सृष्टि-विशेष का वृत्तान्त, प्रसिद्ध घरानों का इतिहास भिन्न-भिन्न समय का वर्णन और महापुरुषों के जीवनचरित ।

(6) विष्णुपुराण के तीसरे खण्ड के 6ठे अध्याय के 16वें श्लोक में इतिहास को चार भागे

---

1 छान्दोग्योपनिषद् 7/1/2

2 स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
पुराणानि खिलानि च

मे विभाजित किया है ।

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्प सिद्धिभिः । पुराणं संहिताञ्चके पुराणार्थ विशारदः ॥

अथर्ववेद वक्ता व्यास ने एक पुराण संहिता लिखी है, जिसमे चार प्रकार के विषय थे अर्थात् 1. आख्यान, 2. उपाख्यान, 3. गाथा और 4. कल्पसिद्धि ।

1. आख्यान उसको कहते हैं जिसे वर्णन करने वाले ने निज नेत्रों से देखा हो ।

2. उपाख्यान उन घटनाओं को कहते हैं जिन्हें वर्णन करने वाले ने अन्य मनुष्यों से सुनकर लिपिबद्ध किया हो ।

3. गाथा उन गीतों का नाम है जो पूर्व जनों के बारे में गाये जाते हों ।

4. कल्पसिद्धि उस परिपाटी का नाम है जो श्राद्ध के समय में की जाती है ।

उपर्युक्त प्रमाणों के होते हुए निश्चित रूप से यह कहना कि प्राचीन आर्य लोगो को इतिहास मालूम न था और उनके समय में इतिहास-लेखकों का कुछ मान न था, इस प्रकार का कथन है जिसको स्वीकार करने के लिए हम कदापि उद्यत नहीं । हम ऊपर कह आये है कि समय के परिवर्तन से यदि संस्कृत भाषा में किसी शास्त्र-विशेष का लोप हो गया तो उससे यह परिणाम निकालना कि उस भाषा (संस्कृत) में उस शास्त्र का कभी अस्तित्व ही न था, सर्वथैव मिथ्या है । हमारे पास इस तथ्य के लिए बहुत प्रमाण हैं कि प्राचीन साहित्य की बहुत-सी पुस्तको का कुछ पता नहीं । आर्यो की धर्म पुस्तकें (अर्थात् ब्राह्मण, सूत्र और स्मृतियाँ) भी काल के हस्तक्षेप से रक्षित नहीं रही हैं, ऐसी दशा में पुराणों और इतिहासों का लोप हो जाना और इस समय न मिलना आश्चर्यजनक नहीं । अतएव हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि प्राचीन आर्यों के समय में इतिहास और जीवनचरित विद्यमान थे और उनको इतिहास और गाथा कहते थे । अब यह प्रश्न उठता है कि जो पुस्तकें वर्तमान काल में संस्कृत में पुराणों के नाम से प्रसिद्ध है उन्हें ऐतिहासिक गौरव प्राप्त है या नहीं ? यदि नहीं तो इसका कारण क्या है ?

(आ) पुराणों का ऐतिहासिक गौरव

हम निःशंक यह कहने को उद्यत है कि वर्तमान पुराणों को ऐतिहासिक गौरव प्राप्त नही है । स्वयं उन्हीं पुराणों में इस बात का प्रमाण मिलता है कि वह प्राचीन साहित्य के पुराण और इतिहास नहीं है वरंच परवर्ती आर्य जाति के समय मे रचे गए हैं और उनमें से बहुत-से तो उस समय लिखे गए है जब आर्य जाति अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता को खो बैठी थी और अपने धर्म और कर्म को नष्ट कर 'हिन्दू' के कलंकित नाम से पुकारी जाती थी । जब उसको अपने आपको, अपने धर्म को, अपनी मानमर्यादा तथा अपनी स्त्रियों के सतीत्व को संरक्षित रखने के लिए अपने प्राचीन आचार-व्यवहारों को त्याग करना पड़ा जिससे उनका प्राचीन धर्म-कर्म ऐसा दब गया कि उसके चिह्न भी शेष न रहते यदि अंग्रेजी राज्य के आगमन के साथ उस पर प्रकाश की आभा न पड़ती और उसके ऊपर के को उठा देने का उन्हें (आर्य जाति को)

अवसर न मिलता ।

प्रत्येक सुशिक्षित आर्य जानता है कि पुराण 18 हैं परन्तु इनके अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी पुस्तकें पाई जाती हैं जो उपपुराण के नाम से प्रसिद्ध हैं जो ऐसे किस्से-कहानियों से भरी है कि कोई भी मनुष्य उन्हें पढ़कर सत्य या वास्तविक नही कह सकता । उनका अधिकांश भाग तो एसी बातों से परिपूर्ण है जो बुद्धि और प्रकृति दोनों के विरुद्ध है और उनका अनुमान होना भी असम्भव है ।

कुछ अंग्रेज तथा अनेक आर्य विद्वानों ने सहमत होकर यह व्यवस्था दी है कि वर्तमान पुराण वह पुराण नहीं है जिनका वर्णन उपनिषदों या अन्य प्राचीन ग्रंथों में पाया जाता है । उन अंग्रेज पुराणतत्ववेत्ताओं ने वर्तमान पुराणों का समय निश्चय किया है जिसके मानने से यह परिणाम नहीं निकलता कि वर्तमान काल में से कोई भी विक्रम संवत् के बहुत पहले के है । इनमें से बहुत-से पुराणों का समय तो 14वीं या 15वीं शताब्दी ईस्वी तक निश्चित किया गया है । इसके अतिरिक्त पुराणों में बहुत-से ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन पुराण तो लुप्त हो गए और वर्तमान पुराण आधुनिक समय में बनाये गये हैं ।

(1) मत्स्यपुराण में ब्रह्मवैवर्तपुराण का वर्णन करते हुए लिखा है :

1

अर्थ—"वह पुराण जिसको सूतजी ने नारद के सामने वर्णन किया और जिसमें कृष्ण का महत्त्व, रथन्तर कल्प के समाचार और ब्रह्म वराह चरित्र वर्णित है अठारह हजार श्लोकों मे है और उसका नाम ब्रह्मवैवर्त पुराण है ।"

अब यदि हम उस पुराण को देखें जो आजकल ब्रह्मवैवर्त पुराण के नाम से प्रसिद्ध है तो हमको ज्ञात होगा कि इसमें न ब्रह्म वराह चरित्र है, न रथन्तर कल्प के समाचार हैं और न उसमे इस बात का ही कही पता लगता है कि इस पुराण को सूतजी ने नारद के सामने वर्णन किया था ।

2

विष्णु पुराण के तीसरे खंड के छठे अध्याय के 16 से 19 श्लोक तक यों लिखा है

वेदव्यास ने (जो पुराणों की विद्या में पूर्ण थे) एक संहिता बनाई थी जिसमें आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पसिद्धि थी । उन्होंने फिर यह पुराण अपने प्रसिद्ध शिष्य लोमहर्षण को दे दिया । सूत लोमहर्षण के 6 शिष्य हुए—सावर्णि, अग्निवर्त्त, मित्रायु, वैशम्पायन, अकृत व्रण और हारीत । इनमें से कश्यप, हारीत और वैशम्पायन ने एक-एक पुराण संहिता लिखी परन्तु सबका मूल वही संहिता थी जिसका नाम लोमहर्षण संहिता था और जिसको लोमहर्षण ने रचा था ।

(3) अग्नि पुराण में भी यही लिखी है—

3

अर्थ—लोमहर्षण सूत रचयिता ने व्यास से पुराण प्राप्त किया और सूतजी उसके शिष्य हुए। लोमहर्षण सूत और दूसरों ने पुराण संहिताओं को रचा।

(4) इसकी पुष्टि भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध के तीसरे अध्याय के श्लोकों से होती है।

4

अर्थ—आरुणि, कश्यप, हारीत, अकृतव्रण, वैशम्पायन और ह्लमेय ये 6 पौराणिक थे। उन्होंने मेरे पिता से पुराण सीखे जो स्वयं व्यास के शिष्य थे और मूल पुराण संहिता का अध्ययन करके उन्होंने एक-एक पुराण रचा।

(5) भागवत के 12वें स्कन्ध 7वें अध्याय के 5वें श्लोक पर टीका करते हुए पं० श्रीधर यह लिखते है :

5

अर्थ—प्रथम व्यास ने संहिता लिखी और उसे मेरे पिता लोमहर्षण को सिखाया। उनसे आरुणि और दूसरों ने एक संहिता पढ़ी और उनका शिष्य मै हूँ।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वर्तमान पुराणों के रचयिता के विचार में वेदव्यास की बनाई हुई पुराण संहिता वास्तव में एक ही थी और फिर उससे 6 संहिताएँ हुई। वे 6 संहिता कौन-सी थीं और फिर उनका क्या हुआ, इसका कुछ पता नहीं चलता। मि० रमेशचन्द्रदत्त, प्रोफेसर मैक्समूलर तथा अन्य यूरोपीय पुरातत्ववेत्तागण भी इस विषय मे सहमत हैं कि प्राचीन पुराणों का कुछ पता नही चलता और वे लुप्त हो गए। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास जी की बनाई पुराण संहिता (यदि वास्तव में व्यास जी ने कोई इस नाम की पुस्तक रची थी) तो बौद्धों के समय मे नष्ट हो गई और पौराणिक समय में दन्तकथाओं अथवा अन्य लेख प्रमाणों के आधार पर वर्तमान पुराणों की रचना हुई। उस समय से आज पर्यन्त इनमें बराबर कुछ-न-कुछ काट-छाँट होती चली आई है और समय-समय पर कुछ पंडित महाशय अपने वाक्चातुर्य या बुद्धि का परिचय देने के लिए टिप्पणी के तौर पर नवीन श्लोक इनमें बढ़ाते रहे है। इन पंडितों के वंश वालो ने अपना कर्तव्य समझा कि पुराणो पर कुछ-न-कुछ अपनी बुद्धि लड़ावें और दासत्व के समय के दुर्बल विचारों को सम्मिलित करके उनको एक अनोखी खिचड़ी बना दिया। यहाँ तक कि वर्तमान पौराणिक साहित्य विविध प्रसंगों का एक ऐसा संग्रह बन गया है जिसमें से वास्तविक तथा कल्पित रचनाओं को पृथक् करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव हो चला है। सम्भव है कि इस सग्रह में सच्ची घटनाएँ और उत्तम विचारो के मोती भी दबे पड़े हो।

परन्तु इस समय भी उनकी अवस्था ऐसी शोचनीय है कि उनमे से यथाक्रम किसी घटना

को निकालना दुर्लभ प्रतीत होता है । प्राचीन आर्य सभ्यता का विद्यार्थी जिसने उपनिषदो की अद्वितीय विद्या तथा दर्शनों का अध्ययन करके प्राचीन आर्यो की सभ्यता के उत्कर्ष का विचार किया है, वह जब पौराणिक साहित्य तक पहुँचता है तो यकायक उसके भीतर से ठंडी साँस निकलती है । यदि उसका आर्यो के नाम से कोई संबंध है या उसके देह में उन्हीं प्राचीन आर्यो का रक्त है, जिन्होंने रामायण और महाभारत काल में प्रसिद्धि पाई थी तो स्वत: ही उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह निकलती है और वह चिल्ला उठता है 'हाय ! हम कहाँ थे और कहाँ आ गये । वैदिक ऋषियों की सन्तान ! जिन्होंने दर्शनशास्त्रो की रचना की थी, उनकी ही सन्तान फिर पुराणों और तंत्रों की रचयिता बनी है !!'

कदाचित् आपके मन में यह प्रश्न उपस्थित हो कि श्रीकृष्ण के जीवनचरित का पौराणिक विषय के वादानुवादो से क्या प्रयोजन हैं, तो हमारा उत्तर यह है कि दुर्भाग्यवश श्रीकृष्ण का वह जीवन-वृत्तान्त जो कुछ लोगों को विदित है, अथवा हो सकता है, उस सबका आधार पौराणिक साहित्य ही है । पुराणों ने जातीयता को नष्ट कर मानुषी जीवन को निर्बल बनाने और उसे नीति तथा आध्यात्मिक स्थिति से गिराने मे जो काम किया है वह सबसे अधिक उसी महान् पवित्रात्मा से संबंध रखता है, जिनकी संक्षिप्त जीवनी लिखने के हेतु हमने आज लेखनी उठाई है ।

श्रीकृष्ण पर पुराणों ने क्या-क्या अत्याचार नही किये है ? यहाँ तक कि संसार के एक महापुरुष को अपने क्षुद्र भावो के तीरो से ऐसा बेधित किया कि उसकी सूरत ही बदल गई है । इन्ही पुराणों के कृपाकटाक्ष से अधिकांश आर्य जनों का मन श्रीकृष्ण की ओर से ऐसा फिर गया है और वे उन्हें विषयी और अपवित्र समझने लगे हैं । उसी पौराणिक शिक्षा के कारण बहुत से आर्य शिक्षा पाकर मुसलमान और ईसाइयों के जाल मे जा फँसे । कई बार अच्छे-अच्छे सुशिक्षित पुरुषों के मुख से सुना गया है कि इस धर्मभूमि की समस्त अवनति और आपदाओ के मूल में श्रीकृष्ण ही हैं जिन्होंने अपनी निकृष्ट शिक्षा से महाभारत का युद्ध कराया और देश को अस्तव्यस्त किया । जब हम किसी आर्य सन्तान के मुख से महात्मा कृष्ण के विषय मे ऐसे अपमानसूचक शब्द सुनते हैं, हमारा कलेजा मुँह को आ जाता है । परन्तु इन बिचारे नई सभ्यता वालों का क्या अपराध है । पौराणिक गप्पों ने उन्हें इस प्रकार चक्कर में डाल दिया है जिससे उनके लिए अपने जातीय साहित्य से सत्य और असत्य को पृथक् करना असम्भव प्रतीत होता है । हमारे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि पुराणों में सत्य का लेश भी नहीं । हमारा तो मत है कि हमारी जाति का इतिहास कदाचित् कुछ पुराणो में भी मिल सके । परन्तु उपमा आदि अलंकार, यार लोगो की मनघड़न्त और हर पीढ़ी के पंडितों के स्वेच्छाचार का इस साहित्य पर इतना अधिकार है कि उसमें से सच्ची घटनाओं का निकालना यदि असम्भव नहीं तो बहुत ही कठिन है ।

यों तो लगभग प्रत्येक पुराण में श्रीकृष्ण के जीवन के कुछ-न-कुछ वृत्त अवश्य मिलते है, परन्तु जिनमें यथाक्रम या सविस्तार वर्णन किया गया है, उनके नाम ये हैं—ब्रह्मवैवर्त, भागवत, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण । इनके अतिरिक्त 'हरिवंश' नामक पुस्तक में भी श्रीकृष्ण के वृत्तान्त बहुत

पाये जाते हैं और महाभारत में भी प्राय: कृष्ण का वर्णन आता है । साधारणत: तो पुरातत्ववेत्ताओं का यह मत है कि इन पुराणो में विष्णुपुराण और महाभारत सबसे प्राचीन जान पड़ते हैं, परन्तु इनके विषय में भी यह निर्णय करना कठिन है कि इनका कौन-सा भाग पुराना और कौन-सा नया है ।

प्रोफेसर विल्सन (जिन्होंने विष्णुपुराण का अंग्रेजी अनुवाद किया है) का मत है कि विष्णुपुराण में इस बात के बहुतेरे प्रमाण मौजूद हैं कि उसमें दसवीं शताब्दी ईस्वी तक के वृत्तान्त पाये जाते हैं । तथापि भागवत तथा अन्य पुराणों की अपेक्षा विष्णुपुराण अधिक प्राचीन है । भागवत के विषय में तो यह विवाद चला आता है, कि कौन-सी भागवत अठारह पुराणो मे गिनती करने योग्य है ? श्रीमद्भागवत या देवी भागवत ? वैष्णव अपनी भागवत को वास्तविक पुराण बतलाते है, और शाक्त अपनी पुस्तक को । यूरोपीय विद्वानों का मत है कि श्रीमद्भागवत तेरहवीं शताब्दी ईस्वी में लिखी गई है । जो कुछ हो विद्वानों की दृष्टि में भागवत से विष्णुपुराण अधिक प्राचीन है, तथा उसमें अलंकार का मिश्रण भी कम होने से उसकी बाते अधिक विश्वसनीय मानी जाती हैं ।

इसके अतिरिक्त औरों की अपेक्षा विष्णुपुराण इस योग्य है कि घटनाओं के अनुसंधान की नींव उसी पर रखी जाये । रचना-काल की दृष्टि से हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्मपुराण भी विष्णुपुराण से पश्चात् के माने जाते हैं । प्रोफेसर विल्सन की सम्मति है कि ब्रह्मवैवर्त गोकुलिए गोसाइयों की रचना है और 15वीं शताब्दी ईस्वी से पीछे की लिखी हुई है । अब रहा महाभारत सो उसके विषय में याद रखना चाहिए कि वर्तमान महाभारत असली महाभारत नहीं है । या यो कहो कि कोई यह नहीं बता सकता कि वर्तमान महाभारत में कितने श्लोक असली हैं और कितने प्रक्षिप्त अर्थात् बाद में मिलाये गए हैं । जैसे पुराणो के विषय में साधारणत: यह कहा जाता है कि वे वेदव्यास जी के बनाए हुए है वैसे ही महाभारत के विषय में भी यही कहा जाता है । परन्तु जैसा हम ऊपर कह आये है कि कम-से-कम वर्तमान पुराण व्यास के रचे हुए नही हैं वैसे ही हमारे पास इस बात के भी बहुत-से प्रमाण हैं कि आधुनिक महाभारत का कुल अश व्यास जी का लिखा हुआ नहीं है । स्वयं महाभारत के आदिपर्व से प्रतीत होता है कि व्यास जी ने असल महाभारत रचकर वैशम्पायन को सुनाया, जिसने लोमहर्षण को उसकी शिक्षा दी और जिससे उसके पुत्र उग्रश्रवा ने उसे सीखा । आधुनिक महाभारत के पहले दो श्लोको मे ग्रन्थकर्त्ता (जो अपना नाम नहीं प्रकट करता) लिखता है कि वह उस महाभारत को लिखता है जो उग्रश्रवा ने कुलपति शौनक के यज्ञ (बारह वर्ष के यज्ञ) में ऋषियो के सम्मुख सुनाई थी ।

आदिपर्व प्रथम अध्याय के आठवें श्लोक से प्रकट होता है कि स्वयं उग्रश्रवा को भी आठ हजार श्लोक याद थे और उस समय भी यह विवाद था कि वास्तविक महाभारत कौन-से श्लोक से प्रारम्भ होता है ।

आदिपर्व के निम्न श्लोक से प्रकट होता है कि व्यास जी ने असल में केवल चौबीस हजार श्लोक बनाए थे और फिर डेढ़ सौ श्लोकों में उन 24 हजार का संक्षिप्त आशय वर्णन कर

दिया था ।

श्लोकार्थ—व्यास ने असल में 24 हजार श्लोकों में भारत बनाई, विद्वान् उसी को असल महाभारत कहते है ।[1] परन्तु आधुनिक महाभारत में 1 लाख 7 हजार 3 सौ 90 श्लोक है और 268 श्लोकों मे तो केवल सूचीपत्र लिखा गया है । इससे यह परिणाम निकलता है कि आधुनिक भारत मे कितनी वृद्धि हुई है और इसी से उसकी ऐतिहासिक स्थिति कितनी कम हो गई है । अनेक हस्तलिखित प्रतियों में तो आदि के कई अध्याय ही लुप्त है जिससे प्रोफेसर मैक्समूलर मि० रमेशचन्द्र दत्त रचित कविताबद्ध महाभारत की भूमिका से यह परिणाम निकालते हैं कि यह सारा अध्याय पीछे से बढ़ा दिया गया है । साराश यह कि वर्तमान महाभारत में बहुत कुछ मिलावट है । फिर भी कृष्ण विषयक जो कुछ हम जानना चाहते हैं वह हमको इन्हीं दोनों ग्रथो से विदित हो सकता है : (1) विष्णुपुराण (2) महाभारत । अतएव हमारे देशवासियों को चाहिए कि कृष्ण के चरित को जानने के लिए इन दोनों पुस्तकों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें और फिर निष्पक्ष भाव से परिणाम निकालें कि क्या कवि की अत्युक्ति है और क्या वास्तविक है ।

(8) वास्तविक तथ्यों तथा मिलावट का बोध कैसे हो सकता है ? हम सब इस बात को मानते हैं कि बौद्ध धर्म ने श्रीकृष्ण के पश्चात् जन्म लिया है । हिन्दू श्रीकृष्ण को द्वापर युग का अवतार मानते है और महाभारत की लड़ाई से कलियुग का आरम्भ बताते है । यूरोपीय विद्वान् प्राचीन तत्त्ववेत्ता कृष्ण का समय हजरत मसीह से हजार वर्ष पहले ठहराते हैं । यह बात अनुसन्धान द्वारा मालूम होती है कि महात्मा बुद्ध का जन्म हजरत मसीह से पाँच सौ वर्ष पहले हुआ है अतएव यह परिणाम निकलता है कि विष्णुपुराण और महाभारत में जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म की शिक्षा के चिह्न पाये जाते है वे भाग (महाभारत के) बौद्ध काल के पश्चात् के है, अत विश्वसनीय नहीं हो सकते । इस प्रकार संस्कृत साहित्य का अध्ययन हमें बताता है कि बौद्ध धर्म से पहले इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं थी और न मूर्तियों के लिए मन्दिर बनाने की परिपाटी थी ।

अत: यह कहना युक्तियुक्त ही है कि महाभारत और विष्णुपुराण के जिन भागों मे मूर्तिपूजा और मन्दिरों का वर्णन है वे पीछे से मिलाये हुए हैं । हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म से पहले के साहित्य में ईश्वर के अवतार लेने का कहीं वर्णन नहीं है और न उस समय तक हिन्दुओं में (तसलीस) त्रिमूर्ति (विष्णु, शिव और ब्रह्मा) की पूजा का प्रचार था, वरन् उस समय तक जाति के बंधन भी ऐसे प्रबल न थे जैसे कुछ काल पश्चात् हो गए । इन बातो का विचार करके विष्णुपुराण तथा महाभारत में से भी बहुत कुछ सत्य निकल सकता है । जातिबंधन के विषय में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि स्वयं व्यास महाराज (जो महाभारत के रचयिता है) जन्म से शूद्र थे[2] जिससे सिद्ध होता है कि उस समय (जब व्यास जी ने भारत लिखी है) जाति का कुछ अधिक विचार न था । यदि यह मान लें (और इसके मानने मे सकोच

---

1 चतुर्विंशति साहस्री चक्रे भारत संहिताम् ।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधै   आदि पर्व 1/102

2 व्यास का जन्म महर्षि पराशर और निषाद पुत्री सत्यवती से हुआ

भी न होना चाहिए) तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रीकृष्ण का जन्म उस समय हुआ जब देश में वैदिक धर्म अपनी वास्तविक पवित्रता में था। जाति का विचार जन्म से न था। मनुष्यों को परमात्मा का पद नहीं मिलता था। अवतारों की अभी उत्पत्ति नही हुई थी, मूर्तिपूजा का नाम-निशान नहीं था और हिन्दुओं की त्रिमूर्ति अभी स्थापित नहीं हुई थी। वैदिक कर्मकांड की प्रथा प्रचलित थी, बौद्ध धर्म का जन्म नहीं हुआ था, पर अनेक दर्शनो ने लोगों का विश्वास निर्बल कर दिया था और उन्हें धर्म से अश्रद्धा होने लग गई थी। इन बातो को सम्मुख रखकर और कवि वर्णित अलंकारादि का विचार करके यदि हम महाभारत तथा विष्णुपुराण में से कुछ यथार्थ बातें निकालना चाहें तो निष्फलता कदापि संभव नहीं। तथापि यह याद रखना चाहिए कि ये बातें बड़ी कठिनाई तथा अनुसन्धान द्वारा मालूम हो सकती हैं, क्योंकि वास्तविक इतिहास का मिलना असंभव है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अब हम यह दिखलायेंगे कि क्या कृष्ण के जीवन-काल का निर्णय करना वास्तव मे असंभव है या इसकी कुछ सम्भावना है।

(9) कृष्ण तथा महाभारत का समय। महाभारत के समय का निर्णय करना तनिक कठिन है क्योंकि उस समय का कोई यथाक्रम इतिहास मौजूद नही, परन्तु इस विषय मे अनुसंधान द्वारा जो-जो बातें अब तक जानी गई है उन्हें हम पाठकों के सूचनार्थ लिखते है।

(अ) यह बात हिन्दुओं में साधारणत: प्रसिद्ध है कि महाभारत के युद्ध से कलियुग का आरम्भ हुआ है और कृष्ण का जन्म द्वापर में हुआ है। कलियुग को आरम्भ हुए लगभग 5000 वर्ष माने जाते हैं। गणितशास्त्र वाले भी कलियुग का आरम्भ 4996 वर्ष से निश्चय करते है।

(क) काश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' का लेखक कल्हण लिखता है कि कलियुग के 653वे वर्ष में गौड नामक राजा काश्मीर मे वर्तमान था और युधिष्ठिर तथा कौरव बन मे थे। गौड ने लगभग 65 वर्ष राज्य किया जिससे युधिष्ठिर का समय लगभग 2400 वर्ष मसीह स पूर्व स्थिर होता है अर्थात् आज से 4300 वर्ष होते है।

(ख) विष्णुपुराण से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर का पोता परीक्षित राजा नन्द से 1015 वर्ष पहले हुआ। पहला राजा नन्द चन्द्रगुप्त से 100 वर्ष पूर्व हुआ। चन्द्रगुप्त ने मसीह से 3015 वर्ष पहले राज्य पाया जिससे परीक्षित का समय 1430 वर्ष मसीह पूर्व स्थिर होता है।

(ग) एक दूसरे स्थान पर विष्णुपुराण, परीक्षित का समय 1200 वर्ष कलियुगी ठहराता है जिससे परीक्षित का काल लगभग 1900 वर्ष मसीह पूर्व सिद्ध होता है।

(घ) महाभारत के पढ़ने से विदित होता है कि जिस समय महाभारत की लड़ाई हुई थी उस समय सबसे छोटा दिन और सबसे बड़ी रात माघ महीने में हुआ करती थी क्योंकि भीष्मपितामह सूर्य के (खने उस्तवा) दक्षिण मे चले जाने पर मृत्यु को प्राप्त हुए। परन्तु अब 24 दिसम्बर को सबसे बड़ी रात और सबसे छोटा दिन होता है। ज्योतिषविद्या के जानने वाले बताते है कि इस परिवर्तन को हुए कम-से-कम 3426 वर्ष हुए है जिससे यह परिणाम निकलता है कि महाभारत को भी 3426 वर्ष से कम नहीं हुए, अधिक चाहे कुछ और हों।

(च) ज्योतिषविद्या की सहायता से जो यह परिणाम निकलता है उसके विषय में मि० बाल

गगाधर तिलक ने 'ओरियन' नामक अपने ग्रंथ मे बहुत कुछ तर्क-वितर्क करने के पश्चात् लिखा है कि वह समय जब माघ मास में सूर्य उत्तरायण में होता था बहुत प्राचीन सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत साहित्य में महाभारत के प्राय: सभी वीरों का वर्णन आता है, जिससे यूरोपीय पुरातत्वज्ञ सिद्ध करते है कि महाभारत की असली लड़ाई इन ग्रंथों के रचे जाने से बहुत पहले हो चुकी थी ।

(10) प्राचीन संस्कृत साहित्य में कृष्ण तथा अन्य वीरों का वर्णन ।

पाणिनि ऋषि कृत अष्टाध्यायी के सूत्रों में युधिष्ठिर, कुन्ती तथा वासुदेव और अर्जुन के नाम आते हैं जैसे आठवें अध्याय के तीसरे पाद के 95वें सूत्र में युधिष्ठिर (शब्द) आया है ।[1] इसी प्रकार चौथे अध्याय के पहले पाद के 174वें सूत्र में कुन्ती शब्द का प्रयोग हुआ है[2] फिर इसी अध्याय के तीसरे पाद के 98वें सूत्र मे वासुदेव तथा अर्जुन का नाम आता है ।[3]

प्रोफेसर गोल्डस्टकर की सम्मति है कि पाणिनि मुनि ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों से भी बहुत पहले हुए हैं । श्री स्वामी दयानन्द की भी यही सम्मति है । ब्राह्मण ग्रंथों मे ऐतरेय और शतपथ मे परीक्षित और जनमेजय का वर्णन आया है । जनमेजय पाण्डवों के प्रपौत्र का नाम था जिसके दरबार मे प्रथम महाभारत सुनाई गई । इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय आरण्यक में श्रीकृष्ण का नाम आता है । छान्दोग्य उपनिषद् में 'देवकी के पुत्र कृष्ण' का वर्णन है । आश्वलायन गृह्य सूत्र मे भी महाभारत के युद्ध का वर्णन आया है । इसी तरह महर्षि पतंजलि के भाष्य में कई जगह आया है कि कृष्ण वासुदेव ने अपने मामा कंस को मारा इत्यादि । यह भी याद रखना चाहिए कि छ: दर्शनकारों में सबसे अन्तिम दर्शनकार व्यास हुए हैं । व्यास को वेदान्त दर्शन का कर्ता मानते हैं । अब इन बातों के रहते यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि महाभारत का युद्ध कब हुआ, महाभारत ग्रंथ कब रचा गया और कौन-से व्यास ने उसको बनाया ।

तथापि यह परिणाम निकला कि महाभारत के युद्ध को बहुत काल बीता है और असल महाभारत ग्रंथ युद्ध से कुछ काल पीछे लिखा गया परन्तु कालान्तर में उसमें परिवर्तन होते रहे । यहाँ तक कि आज यह सब कुछ अस्पष्ट हो गया है और हमारे लिए महाभारत के युद्ध तथा महाभारत नामक ग्रंथ के रचे जाने के समय का निर्णय करना भी असम्भव हो गया है ।

यदि वास्तव में महाभारत का युद्ध उपनिषद् तथा सूत्रों के समय से पहले हुआ और असल ग्रथ भी उससे पहले बना तो फिर इसमे संदेह नहीं कि वर्तमान महाभारत में जितनी बातें उस समय के धर्म से विरुद्ध पाई जाती है वह सब कालांतर में मिला दी गई थीं और वास्तविक ग्रथकर्त्ता की लेखनी से नही निकली है ।

(11) क्या यह कथा कल्पित है ?

बहुत-से पुरातत्त्वज्ञों ने यह सम्मति स्थिर की है कि महाभारत की कथा कल्पित है और इसकी घटनाएँ यथार्थ नहीं हैं । बहुत-से विद्वान् इस युद्ध को तो यथार्थ पर उसके नायकों को

---

1 गवि युधिभ्यां स्थिर: । 8/3/95

2 स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च । 4/1/174

3 वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् । 4/3/98

कल्पित मानते है ।[1] हमारी राय में ये दोनों कथन मिथ्या हैं, जिसके प्रमाण ये है—

(1) कृष्ण और अर्जुन की वंशावली का पूरा-पूरा पता चलता है । उनके वंश में अनेक राजा-महाराजा हुए हैं जिन्होंने ऐतिहासिक समय में राज्य किया है ।

(2) सारे संस्कृत साहित्य का प्रमाण उपर्युक्त कथन का खण्डन करता है । (जैसा कि हमने ऊपर वर्णन किया है)

(3) कथा और कथा से संबंध रखने वालों के नाम सर्वसाधारण में प्रसिद्ध हैं तथा देश के उन प्रान्तों में भी विदित हैं जहाँ सहस्रों वर्ष से पढ़ने-लिखने का चिह्न नहीं पाया जाता । फिर कथा संबंधी पुरुषों के नाम से प्राय: स्थानों के भी नाम मिलते हैं । यदि नाम कल्पित होते तो ऐसा कदापि संभव न था ।

(4) महाभारत कथा के जो अनेक संदर्भ संस्कृत साहित्य में पाये जाते है उनसे भी कथा की बहुत-सी घटनाओं की पुष्टि होती है ।

(5) यदि इस कथा को यथार्थ मानें तो कथा संबंधी नामों को कल्पित मानने का कोई विशेष कारण नहीं दीख पडता, तथा उसमें यह भी प्रश्न उठता है, कि यदि ये नाम कल्पित हैं तो कथा के यथार्थ नायकों के नाम क्या थे ?

(6) कृष्ण को अवतार के तुल्य माना जाना इस बात की पुष्टि करता है कि कृष्ण किसी कल्पित व्यक्ति का नाम नहीं था ।

(7) हमारे विपक्षी अपने इस कथन के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं देते । कोई ग्रंथकार तो इस बात का सहारा लेते है कि प्राचीन आर्यावर्त में एक स्त्री के कई पति होने की प्रथा न थी एवं द्रौपदी का पॉच पाण्डवो से विवाह करना एक अत्युक्ति है जो यथार्थ घटना नही है । परन्तु महाभारत के पढने वालों को मालूम है कि ग्रंथकार ने इस घटना को अपवाद (Exception) के रूप में वर्णन किया है और इसके लिए कारण विशेष दिखलाया है ।[2] पुन ऐसे प्रबल प्रमाणों के उपस्थित रहते हुए कुछ महानुभावों की यह राय प्रमाणित नहीं कही जा सकती और न हम कृष्ण तथा अर्जुन प्रभृति नामों को कल्पित मान सकते हैं ।

(12) क्या कृष्ण परमात्मा के अवतार थे ?

इस पुस्तक मे कृष्ण विषयक जो घटनाएँ हमने एकत्र की हैं उनके पढ़ने से पाठकों को यह विदित हो जाएगा कि कृष्ण महाराज का अवतार मानना कहाँ तक सत्य है । हमारी राय है कि कृष्णचन्द्र ने कभी स्वयं इस बात का दावा नही किया और न उनके समय में किसी ने उनको यह पदवी ही दी । ये बातें नई गढ़न्त है और बौद्ध समय के पश्चात् प्रचलित हुई है ।

समस्त वैदिक साहित्य अवतार सिद्धान्त के विरुद्ध है । वेद पुकार-पुकारकर कहता है कि परमेश्वर कभी देह धारण नहीं करता ।[1] यूरोपीय विद्वान् भी इस बात में हमसे सहमत हैं और कहते हैं कि अवतारों का सिद्धान्त बौद्धमत के पश्चात् प्रचलित हुआ । इससे पहले भारतवर्ष

1 वेबर, मोनियर विलियम्स तथा रमेशचन्द्र दत्त की यही धारणा थी ।

2 अनेक विद्वानो ने महाभारत के अन्त:साक्ष्य से ही द्रौपदी के बहुपतित्व का निराकरण किया है । द्रष्टव्य—कौन कहता है द्रौपदी के पाँच पति थे ? —अमर स्वामी सरस्वती ।

3 वेदों मे ईश्वर को अज अकाय अव्रण आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है ।

मे मूर्तिपूजा या अवतारों के सिद्धान्त का मानने वाला कोई भी नहीं था। हम इस पुस्तक के अन्तिम भाग में इस बात पर विचार करेंगे कि कृष्ण का चरित हमारे इस मन्तव्य की कहाँ तक पुष्टि करता है तथा पाठक भी इसके अध्ययन से उपयुक्त सम्मति स्थिर कर सकेंगे।

सहृदय पाठक ! हम इन पृष्ठों में आपके सम्मुख एक महापुरुष का जीवन पेश करते है। श्रीकृष्ण यद्यपि अवतार न थे, मनुष्य थे, परन्तु मनुष्यो की सूची में ऐसे श्रेष्ठतम आचरण के मनुष्य थे जिनको संस्कृत विद्वानों ने 'मर्यादा पुरुषोत्तम' की पदवी दी है। वह अपने समय के महान् शिक्षक थे, योद्धा तथा विद्यासम्पन्न थे। उनकी जीवनी हमारे लिए आदर्श रूप है। हम उनकी शिक्षा से बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। हमारी राय में आधुनिक छात्रमण्डली को उनकी जीवनी ध्यानपूर्वक पढ़नी चाहिए, क्योंकि यूरोप का नास्तिक दर्शन बहुत-से हिन्दू युवकों के चित्त को चलायमान करके उनको हिन्दू धर्म के यथार्थ तत्त्व से पराङ्मुख कर रहा है और इनके दल के दल यूरोपियन जीवन-दर्शन के पीछे भागे जा रहे हैं। उनकी दृष्टि मे अच्छे स्वादिष्ट पकवान खाने, सुन्दर वस्त्र-भूषण पहनने तथा फैशनेबल सवारियों में बैठकर सुख भोग से दिन काटने के अतिरिक्त जीवन का कुछ और उद्देश्य नहीं। आत्मा को वे कोई चीज नही समझते, धर्म को वे घृणा की दृष्टि से देखते है तथा यावत् सांसारिक आपत्तियो को इसी का कारण समझते हैं। वे इसी में भारतवर्ष का हित समझते है कि इसका सर्वनाश कर दिया जाय और जनसाधारण के हितार्थ एक लोकपालित राज्य स्थापित करके एक 'कामनवेल्थ' खड़ा किया जाय जिसमे कोई किसी से यह न पूछे कि तेरा धर्म क्या है ? और तू कोई धर्म रखता है या नहीं ? उनकी सम्मति में धर्म संबंधी सब पुस्तकें समुद्र में फेंक दी जाएँ तथा धर्मसभाओ को देशनिकाला दे दिया जाय। उनकी राय है कि ऐसा न करने से देश का उद्धार नही हो सकता। भारतवर्ष का राजनीतिक हित भी इसी पर निर्भर है कि किसी को दूसरे के आचरण पर प्रश्न करने का अधिकार न हो। हर एक मनुष्य को पूरी स्वाधीनता हो कि जो चाहे खाए, पीए और जो चाहे सो करे। वे यही चाहते है कि केवल शासन में उन्हें भाग मिल जाए और बड़े-बड़े पद भी उन्हें मिलने लगें। सरकार उनसे सलाह लेने लग जाये, टैक्स लगाने और उठाने म उनकी पूछ हो और उन्हें हर प्रकार के धार्मिक या सामाजिक बंधन से छुटकारा मिल जाय। हिन्दू युवकों की एक मंडली आजकल इसी सिद्धान्त की मानने वाली हो रही है। परन्तु दूसरी ओर जिस मंडली को आध्यात्मिक उन्नति का ध्यान है, जिसको धार्मिक शिक्षा या धार्मिक दर्शन से घृणा नहीं, वे वैराग्य, वेदान्त, योग और संन्यास को ही अपना मंतव्य समझते है। उनके विचार में यह संसार स्वप्नवत् और सांसारिक सुख सब घृणित वस्तु हैं। उन्हें सांसारिक उन्नति की परवाह नहीं, वह अपनी धुन में एकदम ब्रह्म या एकदम परमयोगी बनने के अभिलाषी दीख पड़ते हैं। उनकी समझ मे वे लोग पागल हैं जो आत्मोन्नति को छोड़कर भौतिक उन्नति के लिए तत्पर हो रहे है। आजकल नवशिक्षित मंडली साधारणत: इन्ही दो मे से एक मत की अनुयायी हो रही है। परन्तु इनके अतिरिक्त बीच का एक और दल है, जिसे उपर्युक्त दोनो मडलियाँ तुच्छ दृष्टि से देखती हैं। यह दल चाहता है कि हिन्दू अपने प्राचीन शास्त्रोक्त धर्म पर स्थिर होकर उसी धार्मिक शिक्षा के अनुसार उन्नति करें। यह शिक्षित मंडली जैसे एक ओर

जाति को नवीन वेदान्त तथा वैराग्य से बचाने का प्रयत्न करती है वैसे ही दूसरी ओर यूरोप के भौतिक (Material) दर्शन से बचने की चेतावनी भी देती है. परन्तु मनुष्य में यह दोष है कि वह सदा अति की ओर झुकता है, जिसे संस्कृत में अति दोष कहते है । हमारी जाति म यह दोष इस समय प्रबल हो रहा है और इसी से हमारे नवशिक्षित युवकगण अपने आचरण को मध्यम श्रेणी में नहीं रख सकते । ऐसे मनुष्यों के लिए श्रीकृष्ण की जीवनी तथा उनका दर्शन बडा उपयोगी और लाभकारी होगा । परन्तु खेद है कि गीता और महाभारत को पढ़कर लोग कृष्ण की शिक्षा के भाव को समझने में गलती करते है । उससे वैराग्य, योग तथा नवीन वेदान्त की सिद्धि करके लोक-परलोक को लात मार, बाल-बच्चों को छोड़ वस्त्र रँगा लेते हैं । हाय । वह यह नहीं समझते कि जिस कृष्ण ने अर्जुन को लड़ने पर तत्पर किया, जिसने लड़ाई की समाप्ति पर युधिष्टिर को (उसकी इच्छा के प्रतिकूल) राज्य करने पर मजबूर किया, जिसने स्वय विवाह किया और बाल-बच्चे उत्पन्न किये और अपने जीवन का अधिकांश भाग सांसारिक व्यवसाय मे व्यतीत किया. जिसने अपने शत्रुओं से बदला लिया, जिसने दुष्ट पापात्माओं का नाश किया और जिसने दीन-दुखियों की सहायता की, जो स्वय संसार में रहकर सांसारिक धर्म का पालन करता हुआ उत्तम श्रेणी की आत्मोन्नति को प्राप्त हुआ था, उसकी शिक्षा से हम कैसे यह भावार्थ निकाल सकते हैं कि हमारे लिए यही कल्याणकारी है कि हम अपने बाल-बच्चों तथा माता-पिता को त्यागकर वन में चले जायें या अपना सांसारिक धर्म पालन किए बिना योगसाधन मे लग जायें ? कृष्ण की शिक्षा का एकमात्र साराश यह है कि मनुष्य अपने कर्तव्य को (चाहे वे सांसारिक हों या धार्मिक) सचाई, दृढ़ता तथा शुद्धाचरण से पालन करे । इसी से उसे सत्य ज्ञान मिलेगा । इसी से परम मोक्ष भी प्राप्त होगा । कृष्ण ने युद्ध-क्षेत्र में बैटकर अर्जुन के लिए यह बात परम कर्तव्य ठहराई कि वह अपने क्षात्रधर्म के पालन हेतु अपने हाथों से लाखों जीवो का बध करे, वरंच प्रयोजन पड़ने पर अपने वंश वालों का भी शिर छेदन करे । उसने अपने हाथों से बहुत-सी लड़ाइयों में शस्त्र चलाये और रक्त बहाया । ऐसा व्यक्ति क्या इस बात की शिक्षा दे सकता है कि बीसवीं शताब्दी के पतित हिन्दू (जो अपने कर्म से न पूर्ण ब्राह्मण है और न पूर्ण क्षत्रिय) अपने बाल-बच्चों को अनाथ छोड़ और जातीय कर्तव्यों पर पदाघात कर बिना ब्रह्मचर्य पालन किए, बिना गृहस्थ आश्रम को निबाहे, बिना यथाक्रम वेदशास्त्र को पढ़े और बिना अपने वर्णाश्रम के कर्तव्य का पालन किए, योगसाधन मे तत्पर हो जायें तथा स्वयं ब्रह्म बनने की उत्कट कामना मे वन का रास्ता ले ? कृष्ण की शिक्षा के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि जब तक उसे ब्राह्मण पदवी का अधिकार प्राप्त न हो तब तक वह अपने शत्रुओ के साथ युद्ध करे । यदि धर्म, कर्म, न्याय, सत्यता, इत्यादि के लिए दूसरों के सर कुचलने का अवसर आ पड़े तो अपनी जान जोखिम में डालकर भी उससे मुख न मोड़े । हम कर्तव्यो के पालन करने में मिथ्या दया या वैराग्य को पास तक न फटकने दे । यदि प्रत्येक पीड़ित मनुष्य अपनी पीड़ा के हेतु दया का भाव दिखावे और वैराग्य को काम मे लावे, तो एक दिन संसार से न्याय बिलकुल ही उठ जाएगा । ऐसे अवसर पर दया या वैराग्य का भाव दिखाना एक प्रकार की कायरता है । ऐसे अवसर पर किसी का यह कहना कि जब कुछ न बन पड़ा तो

वैराग्य का आश्रय ले लिया, बहुत उचित जान पड़ता है । प्राय: लोग ईसाई धर्म की इसीलिए प्रशसा करते है कि यदि कोई तेरे एक गाल पर तमाचा मारे तो दूसरा भी उसकी ओर फेर दे, किन्तु उनसे पूछो कि इस पर कभी किसी ने अमल भी किया है अथवा स्वयं ईसाई मतावलम्बी भी इसका कहाँ तक आचरण करते हैं ? प्रकृति इसके विरुद्ध शिक्षा देती है । ये बातें केवल कहने की हैं, कोई सामर्थ्य वाला पुरुष इस कायरता की क्रिया में नहीं जा सकता । जो लोग कृष्ण की शिक्षा पर अनुचित समालोचना करके उसको महाभारत के युद्ध तथा उससे जो हानि पहुँची है उसका उत्तरदाता ठहराते हैं, वे तनिक विचारें तो सही कि उनके दर्शन का क्या अर्थ है । यदि उनके घर में कोई चोर या डाकू आ घुसे, तो क्या वे इस अवसर पर दया का भाव दिखावेंगे, या कोई विचारशील दयावान उस चोर को अपना माल ले जाने की आज्ञा देगा, अथवा स्वहित का विचार कर उस व्यवहार विरुद्ध कार्य के लिए उसे हानि पहुँचाने में तत्पर हो जाएगा ? क्या धर्म की यही आज्ञा थी कि अर्जुन रणक्षेत्र से भाग खड़ा होता और इस प्रकार उन सब कर्तव्यों पर पानी फेर देता, जिन पर आशा करके युधिष्ठिर तथा अन्य महाराज सेना सहित सम्मिलित हुए थे ? क्या उस समय कृष्ण का यही कर्तव्य था कि अर्जुन को भागता देख खुद भी उसके साथ भाग जाते ? हम नहीं समझते कि जो लोग कृष्ण की इस प्रकार की अयोग्य आलोचना करते है वे धर्म के रक्षक या प्रचारक कैसे कहला सकते हैं । उनका धर्म केवल मौखिक है । उन्हे इस बात की परवाह नहीं कि उनका धर्म मनुष्य समाज के उपयुक्त है या नहीं । उन्हे इसी से मतलब है कि उनका व्याख्यान सुनने वालों को वह रसपूर्ण प्रतीत हो । हमारा तो विश्वास है कि दया तथा वैराग्य के इस झूठे विचार ने ही हिन्दुओं का सर्वनाश कर दिया है और उनकी श्रेष्ठता को मिट्टी में मिला दिया । न उनको इस लोक का छोड़ा न परलोक का । यदि अब भी भारतवासी इन विश्वासों के पंजे से निकलना न चाहें जबकि आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा तथा गीता उनको इस बात की शिक्षा देती है, तो ऐसी हालत में उनकी उन्नति का विचार एक भ्रम ही है जिसका पूरा होना कदापि संभव नही । इन बातों पर विश्वास रखने वाले न लौकिक उन्नति कर सकते है न पारलौकिक । कारण कि आध्यात्मिक संसार में भी उसी की पहुँच है जो मनुष्य उस लोक में हर परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आध्यात्मिक उन्नति के सोपान पर पैर रखता है । आध्यात्मिक संसार में इन लोगों की पहुँच नहीं हो सकती जो इस ससार के नियमों और परीक्षाओं पर लात मारते है, किन्तु सफलता उन्हें मिलती है जो नियमानुसार अनेक साधनाओं से अपनी आत्मा को इस योग्य बनाते हैं जिससे यह सद्विचार तथा पवित्रता से उस परब्रह्म के चरण-कमलो में स्वयं को समर्पित करते हैं ।

इन पृष्ठों में हम एक पवित्रात्मा महान् पुरुष का जीवन-वृत्तान्त लिखते हैं जिसने अपने जीवन-काल में धर्म का पालन किया है और धर्म ही के अनुसार धर्म और न्याय के शत्रुओ का नाश किया है । रहा यह कि क्या कृष्ण ने अद्वैत की शिक्षा दी या द्वैत की (अर्थात् कृष्ण के मतानुसार आत्मा और परमात्मा एक है या भिन्न) यह ऐसा प्रश्न है जिस पर हम इस पुस्तक के दूसरे भाग मे विचार करेंगे ।

सम्बर 900 ई

क्रम

अध्याय

पहला अध्याय

कृष्ण की जन्मभूमि

"यद्यपि वृन्दावन के कुंज में जहाँ किसी समय कृष्ण गोपियों के संग क्रीड़ा किया करते थे अब उनकी वंशी की गूँज सुनाई नहीं देती, यद्यपि यमुना की धारा प्रतिदिन गोरक्त से रँगी जाती है तथापि यात्री के लिए वह भूमि अब भी पवित्र है। उसके लिए वह पवित्र आरडन[1] के समान है जिसके तट पर बैठकर देशनिकाला दिया गया इसराइल नबी की प्राचीन लड़ाइयों का स्मरण कर आँसू बहाता है।" —कर्नल टाड[2]

समय के हेर-फेर से, अँगरेज़ी शिक्षा से तथा नवीन वासनाओं के उत्पन्न हो जाने से भारतवर्षीय शिक्षित मंडली के मानसिक भावों और विश्वासों में चाहे कितने परिवर्तन क्यों न हुए हों पर कौन-सा हिन्दू है जिसको गंगा और यमुना ये दोनों नाम प्यारे न मालूम होते हों ? अथवा जिसके चित्त में इन दोनों नामों के मुँह में आते ही या कान में पड़ते ही किसी तरह का कोई भाव उत्पन्न न होता हो ? प्यारी यमुना ! क्या तू वही यमुना है जिसकी रेती में हमारे महान् पुरुष, वीर योद्धागण अपनी बाल्यावस्था में क्रीड़ा किया करते थे और जिसके तट पर कुछ बड़े होने पर उन्होंने धनुष-विद्या सीखी थी ?

यमुने ! क्या सचमुच तू वही नदी है जिसके जल ने अनाथ पांडवों के संतप्त हृदय को शान्ति दी थी और जिसके तट पर उन्होंने बड़े परिश्रम और चाहना से इन्द्रप्रस्थ बसाया था ? यमुने ! क्या वास्तव में तू वही यमुना है जिसके किनारे के वनों को पांडवों ने काट डाला था और उन पर अनेक नगरियाँ बसा दी थीं जो बाद में आर्यों की वह राजधानी बनीं जहाँ उनकी राज्यपताका इतनी ऊँचाई से फहराती दीख पड़ती थी कि उसे सैकड़ों कोसों से देखकर उनके शत्रुओं का चित्त भी भयभीत हो जाता था ? यमुने ! क्या तेरी धारा वही धारा है जिसमें कृष्ण महाराज जलक्रीड़ा किया करते थे और जिसमें गर्भवती देवकी कृष्ण जैसे पराक्रमी महान् पुरुष को प्रसव करके स्नान करने आती थी तथा स्नान करने के बाद परमात्मा से अपने बच्चे की रक्षार्थ प्रार्थना करती थी ? यमुने ! हमें तुझसे इन प्रश्नों के करने की इसलिए आवश्यकता हुई है, कि काल की कुटिलता ने तेरी दशा बदल दी, दुख सहते-सहते तेरा हृदय विदीर्ण हो गया और नख से सिर तक तेरे अंग-प्रत्यंगों पर उदासी छा गई। तुर्कों ने तेरी छाती पर वह-वह मूँग दले कि उनके आघातों से छाती चलनी-सी हो गई है। तेरे तट पर भाँति-भाँति के सुन्दर भवनों

---

1 मक्के के पास एक नदी का नाम है।

2 सुप्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार—कर्नल जेम्स टॉड

की जो पंक्तियाँ थीं उनका आज कहीं चिह्न भी नहीं बाकी रहा । जो किसी समय धन-सम्पन्न तथा ऊँचे-ऊँचे राजप्रासादों से सुशोभित होने के कारण इन्द्रपुरी कहलाती थी, उसकी आज जर्जर अवस्था देखकर आठ-आठ आँसू रोना पड़ता है । केवल यही नहीं, वरन् दूर-दूर से यात्रीगण तेरी पुरानी संपत्ति को याद कर-करके रोने के लिए अब भी उमड़े चले आते हैं । तेरे तट पर अब भी एक शहर बसा हुआ है जो हमको तेरी सारी पुरानी बड़ाई का स्मरण दिलाता है और जिसके पुराने खंडहर उसके नवीन मन्दिरों के साथ मिलकर काल की कुटिल गति का सदेह प्रमाण दिखा रहे हैं ।

सहृदय पाठक ! आप समझ ही गए होंगे कि हमारा तात्पर्य मथुरा की नगरी से है, जो श्रीकृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण हिन्दुओं का एक महान् तीर्थ-स्थान गिना जाता है, जिसकी स्तुति में हिन्दू कवियों ने अनेक कविताएँ रच डाली हैं ।

ऐसा कहते हैं कि महाराज रामचन्द्र के समय में उस स्थान पर एक घना बन था जो एक जंगली राजा मधु के सत्व में था और जिसके नाम पर इस प्रान्त को मधुबन कहते थे । राजा मधु के मरने के उपरान्त उसका पुत्र लवण महाराजा रामचन्द्र से लड़ने के लिए तत्पर हुआ जिस पर शत्रुघ्न को उससे लड़ने को भेजा गया । लड़ाई में लवण मारा गया और महाराज शत्रुघ्न की जय हुई जिसके स्मारक रूप में उन्होंने इस स्थान पर मथुरा नगरी बसाई । इसका मथुरा नाम क्यों पड़ा, यह प्रश्न ऐसा है जिसका उत्तर देना कठिन है । संभव है कि मधुपुरी से बिगड़कर मथुरा बन गया हो अथवा संस्कृत शब्द 'मथ' से यह कुछ संबंध रखता हो । 'मथ' शब्द के अर्थ मथने अर्थात् मक्खन निकालने के हैं । संभव है कि दूध, दही और मक्खन की बहुतायत से इसका नाम मथुरा पड़ गया हो । 'जिन्दावस्था'[1] में मथुरा शब्द गोचर के लिए प्रयोग हुआ है फिर गोकुल[2], व्रज, और वृन्दावन ये सब नाम भी यही प्रकट करते हैं कि प्राचीन समय में इस प्रान्त में बड़े-बड़े बन थे जो अपने गोचरों तथा पशुओं के लिए प्रसिद्ध थे और जहाँ दूध, दही तथा मक्खनादि बहुतायत से मिलता था ।

ऐतिहासिक समय में सर्वप्रथम मथुरा का वर्णन महात्मा बुद्ध के जीवनचरित में आया है जिससे प्रकट होता है कि उस समय भी यह शहर भारतवर्ष के दक्षिण प्रांत के प्रसिद्ध शहरो में था । यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय भी इसे कोई धार्मिक श्रेष्ठता प्राप्त थी या नहीं, पर प्रायः बुद्धदेव के वहाँ व्याख्यान देने से विदित होता है कि यह शहर उस समय भी एक बड़ा केन्द्र होगा, क्योंकि महात्मा बुद्ध विशेषतः ऐसे ही बड़े-बड़े स्थानो में व्याख्यान दिया करते थे जहाँ लोगों की अधिक भीड़-भाड़ होती थी । मथुरा कई शताब्दियों तक बौद्ध-शिक्षा का केन्द्र स्थल बना रहा ।

इसके उपरांत मथुरा का वर्णन यूनानियों के संदर्भ में हुआ है और इसमें कुछ संदेह नहीं कि यूनानियों ने इस पर विजय प्राप्त की और कुछ काल तक मथुरा बैक्ट्रिया वंश के अधीन रही ।

---

1 पारसी धर्मग्रन्थ जेन्दावस्ता

2 श्रीमद्भागवत में गोकुल व व्रज का निकास 'गो' शब्द अर्थात् गाय से बताया है भा०अ० 10 श्लोक 25

इसके पश्चात् फिर चीनी यात्री फाहियान के भ्रमणवृत्तांत में मथुरा का वर्णन आता है । फाहियान 5वीं शतब्दी के आदि में यहाँ आया । उसने अपने भ्रमणवृत्तांत में मथुरा का वर्णन किया । वह लिखता है कि उसकी राजधानी का भी यही नाम था । उसके कथनानुसार मथुरा मे उस समय बौद्ध मत का विशेष प्रचार था । सब छोटे-बड़े उसी मत के अनुगामी हो रहे थे । शहर में उस समय 200 विहार (अर्थात् बौद्धो के धार्मिक मन्दिर) थे जिनमें 3 हज़ार बौद्ध भिक्षुक रहते थे और सात स्तूप (मिमोरियल मीनार) थे । फाहियान के 200 वर्ष पश्चात् एक और चीनी यात्री हुआनलिस्टांग[1] यहाँ आया । वह भी मथुरा के विषय में लिखता है कि मथुरा नगर का घेरा उस समय 4 कोस का था । यद्यपि विहारों की संख्या 200 ही थी पर उनमें रहने वाले भिक्षुकों की गिनती घटकर अब 2000 हो गई थी । इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों ने भी 5 मन्दिर बनवा लिए थे । स्तूपों की गिनती उस समय बहुत बढ़ गई थी । हुआनलिस्टांग के समय में बौद्ध तथा पौराणिक धर्म में परस्पर विरोध फैल रहा था और वे एक-दूसरे को दबाने की चेष्टा कर रहे थे जिसका परिणाम यह हुआ कि महाराज शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट की युक्तियों से बौद्ध धर्म परास्त हुआ तथा पौराणिक मत की सारे भारतवर्ष में पुनः पताका फहराने लगी । महमूद गजनबी के आक्रमणों के समय भारत का दक्षिण प्रांत पौराणिक मत का अनुयायी हो गया था ओर मथुरा हिन्दुओं का तीर्थस्थान बन चुका था । महमूद गजनवी ने मथुरा को सन् 1017 में लूटा और मन्दिरों का विध्वस किया । वहाँ के सबसे बड़े मन्दिर के विषय में उसने अपने नायब को पत्र में लिखा, "यदि कोई मनुष्य ऐसा मकान बनाना चाहे तो बिना एक करोड दीनार के नही बनवा सकता तथा बड़े चतुर कारीगर भी उसे 200 वर्ष से कम में नहीं तैयार कर सकते ।" इतना लिखकर ये हजरत अहंकारपूर्वक लिखते हैं, "मेरे हुक्म से तमाम मन्दिरो को जलाकर जमीन में मिला दिया गया है ।" 20 दिन तक शहर को लूटा गया और महमूद को तीन करोड़ का द्रव्य हाथ आया । तारीख यमीनी का लेखक लिखता है कि इस मन्दिर की प्रशसा न लिखने से हो सकती है और न चित्र खींचने से । इस दुष्ट के आक्रमण के बाद मुसलमानों के राज्य में मथुरा नगरी फिर कभी पूरी दीप्तिमान् अवस्था को प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि यहाँ के लोगों को सदा यही भय लगा रहा कि कहीं फिर मुसलमानों को इसे लूटने का विचार पैदा न हो जाय । पर मुसलमानों का इतिहास स्वयं इस बात की साक्षी दे रहा है कि उनके समय मे मथुरा अनेक बार धार्मिक पक्षपात का शिकार बन चुका है । 'तारीख दाऊदी' का लेखक लिखता है कि सिकंदर लोधी ने मथुरा के सब मन्दिरों को नष्ट कर दिया और मन्दिरों से सरायों और मुसलमानी पाठशालाओं का काम लिया । मूर्तियों को कसाइयों को सौंप दिया जिनसे वह मास तोला करें और मथुरा के हिन्दुओं को शिर और दाढ़ी मुँड़ाने या किसी अन्य प्रकार से पिण्ड-तर्पण करने को भी मना कर दिया ।

सिकंदर लोधी के पश्चात् जहाँगीर के समय तक मथुरा ने पुनः चैन की साँस ली, परन्तु फिर औरंगजेब का आक्रमण हुआ । सन् 1669 ई० में औरंगजेब ने मथुरा पर आक्रमण किया और केशवदेव के बड़े भारी मन्दिर को गिरवाकर ही लौटा । इसी अवसर पर मथुरा का नाम

1 [illegible]

इस्लामाबाद या इस्लामपुर रखा गया। इस मन्दिर पर 33 लाख की लागत आई थी। इस मन्दिर की मूर्तियाँ नवाब कुदसिया बेगम की मस्जिद (जो आगरे में है) की सीढ़ियों में दबा दी गई ताकि वे प्रत्येक आने-जाने वाले के नीचे आवें और मन्दिर की जगह एक बड़ी भारी मस्जिद तैयार की गई जो अब तक बनी हुई है। इस मन्दिर का नीचे का चबूतरा 286 × 268 फुट था। अन्तत: मुसलमानी अत्याचार का समय बीता और औरंगजेब के मरते ही हिन्दुओं का भाग्य फिर जगा[1] मथुरा प्रांत पर जाटों ने अधिकार जमाया और वे अँगरेजी राज्य से लड़ते-भिड़ते इस प्रांत के कुछ-न-कुछ भाग को अपने अधीन बनाये रहे। मथुरा की वर्तमान इमारतें इसी समय की बनी हुई हैं। इन इमारतों की बनावट ऐसी उत्तम है कि ये भारतवर्ष की दर्शनीय इमारतो मे गिनी जाती हैं। हम अन्य इमारतों को छोड़कर केवल उन्हीं इमारतों का यहाँ उल्लेख करेंगे जिनका कृष्ण की जीवनी से कुछ संबंध है।

(1) केशवदेव के नवीन मन्दिर के निकट एक जलाशय है जो पोतड़ा कुंड कहा जाता है जिसमें कृष्ण महाराज के पोतड़े धोए जाते थे।

(2) इसी जलाशय के तट पर एक कोठरी है जो 'कारागृह' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमे वसुदेव और देवकी बंदी बनाकर रखे गये थे। यही कोठरी है जहाँ पुराणों के अनुसार कृष्ण ने जन्म लिया।

(3) यमुना के सब घाटों में विश्रामघाट प्रसिद्ध है। इसके विषय में किंवदंती है, कि कंस का वध करके कृष्ण और बलराम ने यहाँ विश्राम किया था। इस घाट की इमारतें दर्शनीय हैं।

(4) योग घाट उस स्थान का नाम है जहाँ कहते है कि कंस ने नंद और यशोदा की सद्योजात बालिका योगनिद्रा को (जो देवकी के साथ लेटी हुई थी) देवकी की संतान समझकर जमीन पर दे मारा और वहाँ से वह देवी का रूप धारण करके आकाश मार्ग में चली गई।

(5) 'कुब्जा कुआ' नामक स्थान पर वृन्दावन से लौटते समय कृष्ण ने एक कुबड़ी की कमर सीधी कर दी थी। इसे एक चमत्कार माना जाता है।

(6) इसी प्रकार रणभूमि वह स्थान है जहाँ कृष्ण व बलराम ने कंस के पहलवानों से युद्ध करके उन्हे पराजित किया था।

(7) यमुना-तट पर दो छोटे ग्राम है जिनमें से एक का नाम अब तक 'गोकुल' और दूसरे का 'महावन' है। किंवदंती है कि कृष्ण महाराज को पालन-पोषण के लिए जिस नंद गोप के हवाले किया गया था वह यहीं का रहने वाला था। अब कृष्ण संबंधी जो मकान गोकुल मे दिखाये जाते हैं वे महावन में हैं जो वर्तमान गोकुल से कुछ दूरी पर बसा हुआ है। जिस घाट पर जन्म की रात्रि के समय कृष्णचन्द्र नंद के हवाले किये गये उसे 'उत्तर घाट' कहते है। इनके अतिरिक्त वे स्थान भी दिखाये जाते है जहाँ गोकुल में रहकर कृष्ण के जीवन-काल की दूसरी घटनाएँ हुई है। गोकुल और महावन दोनों स्थान पवित्र गिने जाते हैं, जिनमें से गोकुल नदी के तट पर है और उसमें बड़े-बड़े मन्दिर बने हुए है। महावन के निकट शाहजहाँ के समय एक बहुत बड़ा वन था जहाँ शाहजहाँ प्राय: शिकार खेलने आया करता था।

1 गोस्वामी वल्लभाचार्य प्रवर्तित पुष्टि मार्ग

गोकुल आजकल एक बड़ा कस्बा है, जो वल्लभाचारी सम्प्रदाय[1] की जन्मभूमि होने से इस दशा को प्राप्त हुआ है। इस सम्प्रदाय की ओट में ऐसा व्यभिचार होता है जिसे लेखनी लिखते हुए लजाती है।[1]

(8) मथुरा से 6 मील ऊपर तीन ओर प्यारी यमुना से घिरा हुआ द्वीपाकार वृन्दावन का कस्बा बसा हुआ है जहाँ कृष्ण ने बचपन के कई वर्ष व्यतीत किये। संस्कृत में वृन्दा, तुलसी के पेड़ को कहते हैं इसलिए यह अनुमान होता है कि इस बन में कभी तुलसी के पेड़ बहुत रहे होंगे जिससे इसका नाम वृन्दावन पड़ गया। अस्तु, इस नाम का चाहे कुछ और ही कारण क्यों न हो, परन्तु अब तो यह नाम ऐसा प्रसिद्ध तथा चिरस्थायी हो गया कि जब तक कृष्ण का नाम जीवित रहेगा तब तक वह नाम हिन्दुओं के लिए पूजनीय बना रहेगा।

तीन ओर यमुना की लहरें और उसके किनारे-किनारे सुन्दर तथा ऊँचे मन्दिरों की पंक्ति यह एक ऐसा दृश्य है जिसे देखकर प्रत्येक मनुष्य प्रकृति और मनुष्यकृत शोभा के मेल से अपने चित्त को हर्षित कर सकता है। वृन्दावन में सं० 1880 में 32 घाट और लगभग 1000 मन्दिर थे। वृन्दावन वैष्णव सम्प्रदाय का मुख्य स्थान तथा राधावल्लभियों[2] की जन्मभूमि है।

(9) इस अध्याय को समाप्त करने के पहले कुछ और स्थानों का विवरण देना हम आवश्यक समझते हैं।

व्रजमण्डल—मथुरा का निकटस्थ प्रदेश जो 42 मील की लम्बाई तथा 30 मील की चौडाई मे बसा है उसे व्रजमण्डल कहते हैं। कृष्ण मत के मानने वाले इस सारे प्रान्त की यात्रा करते है। इस यात्रा को 'वनयात्रा' कहते हैं। व्रज का अर्थ पशुओं के खेड़े से है जैसे गोकुल का अर्थ गऊओं से है। यह यात्रा भाद्रपद मास में कृष्णचन्द्र के जन्मदिन के उत्सव से आरम्भ होती है। यात्रीगण मथुरा से यात्रा प्रारम्भ करते है और सारे व्रजमण्डल के मन्दिरों, वनो तथा घाटों की फेरी करते हुए गोकुल, वृंदावन इत्यादि स्थानों मे होकर फिर मथुरा में लौट आते हैं। हम स्थानान्तर में सिद्ध करेंगे कि यह वनयात्रा तथा रासलीला आदि प्राचीन काल की नहीं हैं। इन्हे पौराणिक समय के स्वार्थी पुजारियों तथा ब्राह्मणों ने अपनी जीविका के लिए रचा है।

खेद है कि कृष्ण महाराज की जन्मभूमि में इन्हीं के नाम पर उन्हीं पर विश्वास रखने वाले ऐसा अत्याचार करें जिसे देखकर कौन-सा विचारवान् पुरुष है जिसका हृदय काँप न उठता हो या जिसके अन्तःकरण से एक बार दीर्घ निश्वास न निकलता हो। कुटिल काल! तूने बड़ी अनीति मचा रखी है। और तो सब अनर्थ किया ही था, स्वतंत्रता छीनी, धन छीना, हीरे-जवाहर तक लूटे, संसार की सबसे बलवान तथा सम्पन्न जाति को भिखारी बना दिया, धार्मिक से अधर्म-युक्त किया, विद्या और विज्ञान, कला और कौशल सब कुछ ले लिया, पर हमारे पूज्य महापुरुषों के पवित्र जीवनों को तो अकलंकित छोड़ देता। हाय, तूने उनके नाम और यश को भी नष्ट कर मृतक बना छोड़ा, जिनके नाम से हमारी मृतक जाति अब तक अपने को जीवित समझती थी और जिनका श्रेष्ठ नाम लेने से हमें फिर श्रेष्ठता की आशा होती थी।

---

1 द्रष्टव्य—महाराज लाइबल केस का विवरण

2 निम्बार्क सम्प्रदाय जिसमें कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्त्व दिया गया है

दूसरा अध्याय

श्रीकृष्णचन्द्र का वंश

श्रीकृष्णचन्द्र महाराज मातृपक्ष से चन्द्रवंशी यादव क्षत्रियों के नाती थे और पैतृक दृष्टि से सूर्यवंशी क्षत्रियों के वंश से थे। निम्नलिखित वंशावली से उन दोनों प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशो से उनका संबंध भली भाँति प्रकट हो जाएगा।

इक्ष्वाकु से बहुत पीढ़ियों पश्चात् उसके वंश मे एक राजा हर्यश्व नामक हुआ है जिसने अयोध्या से निकाले जाने पर गोवर्धन की नींव डाली। उस समय मधुवन प्रान्त पर राजा मधु शासन करता था जिसने अपनी कन्या मधुमती का हर्यश्व के संग विवाह कर दिया। इन्हीं दोनो की संतान का वंशवृक्ष पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है :

वंशवृक्ष

(पैतृक पक्ष)

हर्यश्व और मधुमती—
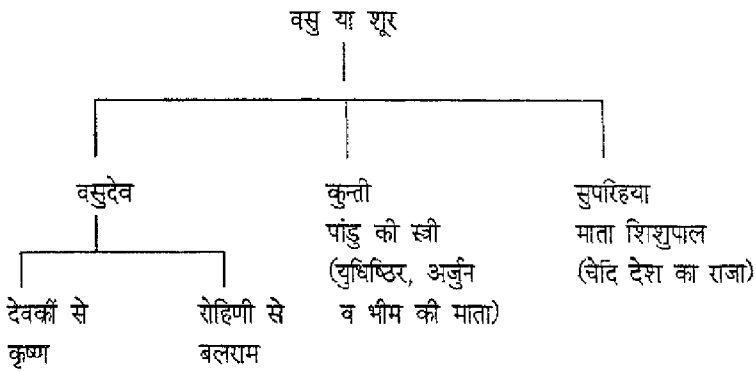
माता की ओर से श्रीकृष्ण का वंशवृक्ष निम्नलिखित है :
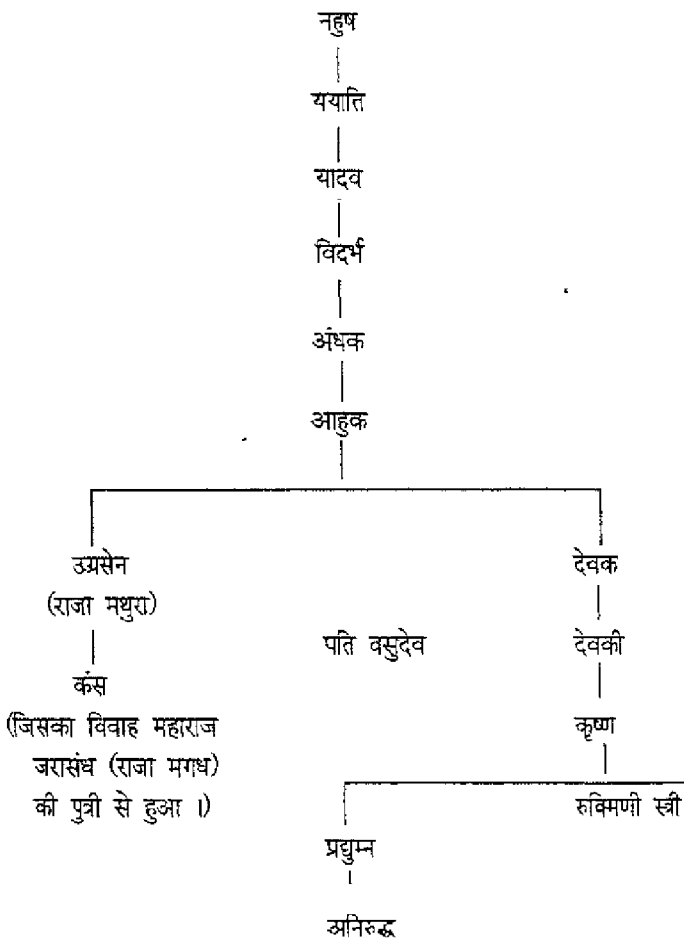
कृष्ण के जन्म के समय यादवों की गद्दी पर उग्रसेन का पुत्र कंस विराजमान था जो अपने पिता को सिंहासन से उतारकर स्वयं गद्दी पर बैठा था। कंस जरासंघ का दामाद था। यह जरासंघ मगध देश का राजा और अपने समय का बड़ा प्रतापी था। इसी की सहायता से कंस अपने पूज्य पिता को जीते जी राज्य से च्युत करके स्वयं राजा बन गया पर औरंगजेब की भाँति इसने पिता को बन्दीगृह का मुँह नही दिखलाया।

कंस अपने समय का ऐसा कृतघ्न तथा अत्याचारी राजा था कि उससे उसके अपने-पराये सब तंग थे और उससे छुटकारा पाने हेतु उसकी प्रजा परमात्मा से सदा प्रार्थना करती थी। उसके निंदनीय कार्यों में से पहला तो यही था कि उसने अपने पूज्य पिता का ऐसा अपमान किया, और अपने इस कुत्सित कार्य से अपने वंश को कलंकित किया। सत्य है, योग्य के पुत्र सदा योग्य नही हुआ करते। ऐसे ही कपूत अपने वंश की मान-मर्यादा को मिट्टी में मिला देते है। कंस का वृद्ध पिता उसके बुरे आचरण को देखकर भीतर-ही-भीतर कुढ़ा करता था। पैतृक स्नेह तथा वंश की कुलीनता के कारण उसका पिता उसके विरुद्ध विद्रोह नहीं करता था और उसके अत्याचारो को सहन करता था। भाई, बन्धु, धनी, राज्य-कर्मचारी, यहाँ तक कि प्रजा भी इसके निन्दनीय कार्यों से तंग थी और उच्चवंश का होने के कारण किसी की इतनी हिम्मत नही थी कि सबल वृक्ष की इस शाखा को तोड़ डाले और वृक्ष को इसके बुरे प्रभावों से बचाये। पर यह कब सम्भव था कि ऐसे अन्यायी की अनीतियाँ निरंतर बढ़ती जायें और परमात्मा की ओर से उसकी कुछ सुध न ली जाये।

वह अपने निन्दनीय कर्मों से कब तक परमात्मा की सृष्टि को तंग कर सकता था। पालन-पोषणकर्ता परमेश्वर भी उसके अत्याचारों का फल उसको देने वाला था। उसके अत्याचारो का अन्त अब निकट पहुँच गया था। उस जगतपिता ने मुक्त आत्माओं में से एक को फिर जन्म दिया जिससे उसके द्वारा संसार मे फिर धर्म और न्याय का राज्य स्थापित हो और जन-साधारण मे वह एक आदर्श स्वरूप बन जाय।

इधर पिताद्रोही कंस को भी लगने लगा कि मेरे पापों का परिणाम अब मुझे शीघ्र मिलेगा। उसके अन्तःकरण से आवाज आई, "उठ; अब भी अपने आचरणों को सुधारने तथा सुपथ पर आने का समय है। अधर्म और पाप का साथ छोड़। पूर्वजों के यश को जो तूने कलंकित किया है उस धब्बे को मिटाने का यत्न कर।" पर जो आत्माएँ पाप करने में अभ्यस्त हो जाती हैं उनके लिए ऐसी ध्वनि किसी काम की नहीं होती। वे भयभीत होने पर भी और घोर पापों के करने में उद्यत होती हैं। उस समय तक उनके पाप बढ़ते जाते है जब तक उन्हे परमात्मा की ओर से समुचित दंड प्रत्यक्ष नहीं मिल जाता।

तीसरा अध्याय

श्रीकृष्ण का जन्म

विष्णुपुराण में लिखा है कि जब देवकी का विवाह वसुदेव से हो चुका और वधू को वर के घर पहुँचाने के लिए रथ पर सवार कराया गया तो कंस उसके सारथी बने । चलते-चलते आकाशवाणी हुई, ''रे मूर्ख, तू किस भ्रम में पड़ा है । जिस लड़की को तू रथ पर बैठाकर उसके श्वसुर के घर ले चला है उसी के उदर से एक पुत्र उत्पन्न होगा जिसके हाथ से तू मारा जाएगा ।'' यह बात कंस को आकाशवाणी अथवा किसी योगी पुरुष के मुख से विदित हो गई कि यदि मुझे अपने राजपाट में कुछ आशंका हो सकती है तो वह इस लड़की की संतान से ही, क्योंकि उसके दादा की संतान में से और कोई उसके स्वत्व मे टाँग अड़ाने वाला नही था । इस विचार के उत्पन्न होते ही उसकी पापिष्ठ आत्मा बड़ी बेचैन हुई । उसे अपनी मृत्यु चारो ओर आँखों के सामने दीख पड़ने लगी । अब इसके अतिरिक्त उसे और कुछ न सूझा कि उस अज्ञान बालिका का अन्त कर दिया जाय जिससे उसकी ओर से कुछ शंका न रहे ।

सत्य है, पापी अपने को बहुत बलवान और कठोर हृदय समझता है, पर वास्तव में उसका अभ्यन्तर पापों से खोखला होकर बलहीन हो जाता है । तनिक भय या उसकी छाया उसे भयभीत तथा शान्तिरहित कर देती है । उसके सारे पाप और सारी अनीतियाँ सदेह उसके सामने आ खडी होती है और नाना प्रकार से उसको डराने लगती हैं । वे आत्माएँ, जिन्होंने उससे किसी प्रकार की पीड़ा पाई है, भयानक रूप धारण कर उसके नेत्रों के सामने आ विराजती हैं और सोते-जागते उसे भय दिलाती हैं । उसकी अवस्था उस चोर के समान हो जाती है जो अपनी परछाई से डर उठता है या तनिक-सा खटका पाकर काँपने लगता है । आगे चलकर पुराण लेखक लिखता है, ''कंस के चित्त में यह भाव उठते ही उसे विश्वास हो गया कि अब मेरा अन्त आ पहुँचा ।'' मृत्यु से बचने के लिए उसने यह उपाय सोचा कि जैसे भी हो सके देवकी का वध कर देना चाहिए । यह विचार आते ही उसने रथ को रोक दिया । खड्ग ले देवकी की ओर लपका और चाहता था कि एक ही हाथ में उसका सिर धड़ से जुदा कर दे, पर वसुदेव ने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर उसे भगिनीवध के पाप से बचाया ।

कंस क्रोधान्ध होकर स्त्री पर वार करने को उठा था, पर जब चारों ओर से हाहाकार मच गया और उसकी निन्दा होने लगी तो उसे बड़ी ग्लानि हुई । उसने वसुदेव से यह प्रतिज्ञा करा ली कि वह देवकी की होने वाली संतान को उसके हवाले कर दे । इसके बाद ही उसने स्वीकार

का विचार त्यागा और देवकी सहित वसुदेव को अपने घर जाने की आज्ञा दी ।[1] इस विषय मे सब पुराण एक मत है कि वसुदेव ने निज प्रतिज्ञा-पालन में अपने छः पुत्र कंस के हवाले कर दिये और कंस भी ऐसा निर्दयी था कि उसने इन छहों को एक-एक कर मरवा डाला

पर जब सातवीं बार देवकी ने गर्भ धारण किया तो पितृस्नेह के आगे उसका निज प्रतिज्ञा पालन का विचार डावाँडोल हो गया । किसी जाति या धर्म में इस बात की व्यवस्था नहीं है कि जो प्रतिज्ञा बलात् कराई जावे उसका उल्लंघन करने वाला पाप का भागी हो सकता है । दुष्ट कंस ने देवकी के पुत्रों का वध तो करा ही डाला था, वसुदेव के दूसरे पुत्रों को भी (जो दूसरी स्त्रियों से थे) मरवा डाला ।

क्या किसी लेखनी मे शक्ति है कि उस पिता के अतिरिक्त संताप का चित्र खींच सके जिसके सम्मुख अपने ही बालकों का सिर काटा जाय ? कौन पिता है जो ऐसी दशा में उनके प्राण की रक्षा की एक बार चेष्टा न करेगा ? बच्चों की स्वाभाविक मृत्यु माता-पिता के जीवन को कष्टप्रद बना देती है । बहुतेरे ऐसे है जो अपने बच्चे की अकाल मृत्यु के संताप में पिघल पिघलकर जान गँवा देते हैं, या जीवन-भर शोकसागर में पड़े रहते हैं । पर यहाँ तो एक-दो की कौन कहे, छः के छः पुत्रों का उसके सामने वध हुआ । वसुदेव जी इस संताप से महादु:खी हो गए । इसको सहन करने की शक्ति समाप्त हो गई और उन्होने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि जैसे भी होगा अब इस दुष्ट के हाथ से अपने बच्चों को बचाऊँगा । इस सातवें गर्भ की रक्षा के विषय में पुराण में लिखा है कि देवताओं ने देवकी के गर्भ से बच्चा निकाल रोहिणी के गर्भ में डाल दिया (रोहिणी वसुदेव की दूसरी पत्नी का नाम है) और यह बात प्रकट की गई कि देवकी का गर्भ नष्ट हो गया । इस कथन से दो परिणाम निकाल सकते हैं—

एक यह कि देवकी का गर्भ छिपाया गया और रोहिणी का गर्भवती होना प्रसिद्ध किया गया । रोहिणी गोकुल ग्राम में नन्द के घर रखी गई और देवकी के बच्चा उत्पन्न हुआ तो उसका तत्काल रोहिणी की गोद में रख यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि देवकी का गर्भ नष्ट हो गया ।

दूसरा यह कि वास्तव मे बलराम, जो रोहणी के ही पुत्र थे और देवकी का सातवाँ गर्भ भय, चिन्ता या किसी अन्य कारण से नष्ट हो गया था । इससे यह परिणाम निकला कि जिस सातवे बच्चे की इस प्रकार गुप्त रीति से रक्षा की गई, वह बलराम था ।

देवकी सातवीं बार गर्भवती हुई । इस पर तो पहले से पहरा बैठता था, पर इस बार पूरी रखवाली करने की आज्ञा हुई । एक सुरक्षित स्थान में बन्द कर उन पर पहरा-चौकी बैठा दिया

---

1. इस विषय में पुराणों मे बड़ा मतभेद है । कोई पुराण कहता है कि यह आकाशवाणी हुई कि इस लड़की की संतान के द्वारा तेरा वध होगा । अन्य लिखते है कि यह ध्वनि हुई कि आठवीं संतान से तेरा विनाश होगा । कोइ इस अगमवाणी को नारद जी के सिर मढ़ते है । पुराणों मे जहाँ कहीं लड़ाई-झगड़े का काम लेना होता है वहाँ नारद जी की सहायता ढूँढी जाती है । साधारण बोलचाल मे लड़ाई कराने वाले व इधर की उधर पहुँचाने वाले को 'नारद मुनि' कहते हैं । न जाने नारद जी को यह प्रमाण-पत्र किस कारण मिला, क्योंकि नारद एक विख्यात शास्त्रकार तथा महर्षि का नाम है । पुराण के लेखक का शायद यह तात्पर्य है कि किसी दुराचारी ने राजा को यह कुमन्त्रणा दी थी जिसम कोई इसका वंशज राज्याधिकार का दावा न करे । अथवा इनके राजकीय विषयो में विरोध न करे ।

गया और ऐसा प्रबन्ध किया गया जिसमें किसी प्रकार से भी वह अपने बालक को न बचा सके। ऐसा मालूम होता है कि इस बालक के वध के लिए कंस की ओर से जैसा उत्तम प्रबन्ध किया गया था वैसा ही दूसरे पक्ष वाले इसके बचाने में सन्नद्ध थे।

इधर कंस ने पूरे तौर पर पहरा-चौकी बिठा दिया और ऐसा प्रबन्ध किया कि बच्चा किसी प्रकार बचने न पावे। उधर वसुदेव और उनके मित्रों ने बच्चे के बचाने के लिए पूरी-पूरी युक्ति की, जिसका परिणाम यह हुआ कि दुष्ट कंस की सारी युक्तियाँ निष्फल हुई और वसुदेव और उसके मित्र अपने यत्न में सफल हुए। जिस रात्रि में कृष्ण का जन्म हुआ उसी रात्रि को उन्हे राजमहल से निकालकर गोकुल पहुँचा दिया और वहाँ से नन्द की नवजात बालिका को लाकर देवकी के साथ शय्या पर लिटा[1] दिया।

सारांश यह कि भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की आठवीं तिथि को मथुरा की राजधानी में कृष्णचन्द्र ने जन्म लिया। रात अँधेरी थी। मेघो का भयंकर शब्द मानों पापियों का हृदय कम्पायमान कर रहा था। आँधी इतने वेग से चल रही थी मानो वह पृथ्वी तल से इमारतो को उखाड़कर फेक देगी और वर्षा ऐसी हो रही थी मानों वह प्रलय करके ही साँस लेगी। यमुना बाढ़ पर थी। जिस रात्रि कृष्ण ने जन्म लिया वह रात्रि वास्तव में भयंकर थी क्योंकि प्रकृति देवी क्रोध से विकट रूप धारण किये हुए थी।

बच्चे के जन्म लेते ही वसुदेव उसे कपड़े में लपेट बड़ी सावधानी से महल से बाहर निकले। कहते है कि उस रात्रि को सारे पहरे वाले योगनिद्रा से ऐसे मतवाले हो गये कि उन्हे इस बात की सुध न रही कि कौन महल से निकलता है और कौन अन्दर जाता है। पर इसमे सदेह नहीं कि या तो पहरे वालों की असावधानी से वसुदेव को बाहर निकल आने का अवसर मिला अथवा पहरे वाले जान-बूझकर वसुदेव का हित समझकर मचल गए हों। तात्पर्य यह कि वसुदेव कृष्ण को छिपाकर रनवास से बाहर निकल आये। यह समय आधी रात का था। बाहर निकलते ही शेषनाग[2] ने अपने फण से कृष्ण पर छत्र लगा दिया और इस प्रकार उन्हें भीगने से बचा लिया। अब यमुना मे पैर रखा तो आँधी बंद हो गई, आकाश मण्डल स्वच्छ होने लगा और तारे चमकने लगे। नदी-नालों के जल का वेग कुछ कम हो गया। झील तथा सरोवर

---

1 भागवत पुराण में इस विषय मे एक कथा है—जिन दिनो देवकी जी गर्भ से थी तो वे एक दिन यमुना मे स्नान करने गई। वहाँ उनका नंद की पत्नी यशोदा से वार्तालाप हुआ। आपस में जब दुःख की चर्चा चली तो यशोदा ने देवकी को वचन दिया कि मैं तेरे बालक की रक्षा करूँगी, अपना बालक बदले मे तुम्हें दे दूँगी। प्रिय पाठक! यह बात भारत के इतिहास मे कुछ नई नहीं है। ऐसे दृष्टान्त बहुत मिलते हैं जिनमें राजकुमारो को इस तरह रक्षा की गई है और दूसरी स्त्रियो ने उनके हेतु अपने प्यारे पुत्रो का बलिदान दिया है। महाराणा उदयसिंह (चित्तौड़) इसी तरह बचाए गए। उनकी दासी ने कुँवर को फूल के टोकरे मे रखकर दुर्ग से बाहर कर दिया और उसकी जगह पालने पर अपना लड़का लिटा दिया। जब उदयसिंह के शत्रु उसको ढूँढ़ते हुए वहाँ आये तो उसने रोते हुए पालने की ओर इशारा कर दिया जिस पर शत्रुओं ने उसी लड़के को उदयसिंह समझकर एक ही कटार से उसका वध कर दिया।

2 नाग एक जंगली जाति का नाम था जो यमुना के आसपास रहती थी। इस पुस्तक मे आगे भी कई स्थान पर इसका वर्णन आयेगा। इतिहास में भी इस जाति का वर्णन आया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस जाति का कोई सरदार वसुदेव का सहायक बन गया हो।

मे रग-बिरंगे पुष्प महकने लगे । जंगली वृक्षों मे पुष्प लग गये और उन पर पक्षिगण किलोल करने लगे । देवता पुष्प-वर्षा करने लगे । अप्सराएँ नाचने लगीं । सारांश यह कि सृष्टि मात्र मे बधाइयाँ बजने लगीं । कहाँ तो यमुना का जल अथाह हो रहा था और कहाँ कृष्ण महाराज का पैर चूमते ही वह इतनी उतर गई कि वसुदेव उसमे से पैदल पार हो गए ।[1] दूसरे तट पर नन्द बाट देख रहे थे । उन्होंने कृष्ण को ले लिया और अपनी लड़की को वसुदेव के हवाले किया ।

कृष्णचंद्र रातोंरात गोकुल में पहुँचा दिये गए । उनकी जगह यशोदा की लड़की देवकी के साथ लाकर लिटा दी गई । कंस को दूसरे दिन जब ज्ञात हुआ कि रात को देवकी के बालक जन्मा है तो वह तत्काल उठ खड़ा हुआ और सौर मे चला गया । देवकी उसे देख रोने और विलाप करने लगी, पर उस दुष्ट ने एक न मानी और उस लडकी को (जो उसके साथ शय्या पर लेटी हुई थी) उठाकर पृथ्वी पर दे मारा ।

दुष्ट कंस ! पाप ने तेरी आँखों पर पट्टी बाँध दी । सारी आर्य-मर्यादा को तूने मिट्टी मे मिला दिया । इस अज्ञानी बालिका के वध से तूने अपने को महापाप का भागी बना लिया और यह न विचारा कि मृत्यु से कोई भी बच नही सकता । जिस राज्य के लिए तू ऐसे पाप कर रहा है वह क्षणिक है, पर ऐसे घोर पाप से तेरी आत्मा घोर अधोगति को प्राप्त होगी ।

पाप से बढ़कर अंधा करने वाली दूसरी शक्ति जगत् मे नही है । एक पाप को छिपाने के लिए मनुष्य को अनेक पाप करने पड़ते हैं । पाप बड़ा बली है । जो लोग पाप पर विजयी नही हो सकते, उनको सदा खटका बना रहता है । रस्सियाँ साँप बनकर उनको डसने दौडती है । सारा संसार उनको शत्रु दीख पड़ता है । जितना कोई सीधा तथा निष्कपट होता है उतना ही वह (पापी) उससे भय खाता है । अज्ञानी बालकों को भी यह अपना शत्रु समझकर उनके वध पर उतारू हो जाता है, यहाँ तक कि उसके पाप की गठरी इतनी भारी हो जाती है कि वह स्वयं उसी के बोझ से दबकर मर मिटता है ।

पुराण का लेखक आगे लिखता है कि जब लड़की को उठाकर भूमि पर फेंक दिया तो वह तत्काल देवी का रूप धारण कर वायु में अन्तर्धान हो गई और कंस खड़ा देखता ही रह गया,[2] पर उसे लगा कि या तो मेरे साथ धोखा किया गया या मैंने इस बालिका को वृथा मारा अगमवाणी तो बालक के विषय में थी । चाहे कुछ हो पर उसने यादववंश के सारे बालकों के वध की आज्ञा दे दी[3] । ढूँढ़-ढूँढ़कर राजकुमार मारे गये । बहुतेरे यादव वृन्द देश छोड़कर चल दिए और बहुत दिनों तक यह मार-पीट जारी रही ।

1 सहृदय पाठक ! आप तो समझ ही गए होंगे कि इसके क्या अर्थ हैं । यह पुराण की रसीली भाषा है । इस मैंने इसलिए उद्धृत कर दिया है ताकि आप भी इसके आनन्द में मग्न हो । यह कृष्ण का प्रथम अलौकिक कार्य है ।

2 हजरत ईसा के जन्म के विषय मे भी ऐसी ही कथा प्रसिद्ध है कि हिरोदेशी (जो उस समय वहाँ का अनुशासक था) ने इसी तरह तथा इसी भय से अनेक बालक मरवा डाले थे ।

3 शाहनामा में 'फरेदू' के जन्म के विषय मे भी ऐसी ही कथा लिखी है ।

चौथा अध्याय

बाल्यावस्था : गोकुल ग्राम

हमने पिछला अध्याय श्रीकृष्ण को यशोदा की शय्या पर लेटा छोड़कर समाप्त किया था। पाठकों को इस बात के जानने की लालसा होगी कि यशोदा का पति नंद कौन था। पुराणों से पता लगता है कि यह एक जाति विशेष का सरदार था, जिसे पुराणों में गोप लिखा है। इस जाति का कोई विशेष निवास-स्थान नहीं था। अब भी भारतवर्ष में ऐसी जातियाँ है, जो किसी जगह टिककर नहीं रहतीं वरन् अपने छकड़े और पशु लिए आज इस गाँव मे तो दो-चार महीने बाद दूसरे गाँव में चली जाती है। इनमे से कई जातियाँ पशु रखती हैं और दूध मक्खनादि बेचती है और कोई-कोई दूसरा व्यवसाय भी करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के जन्म के समय कोई ऐसी ही जाति उस जंगल मे (जो यमुनापार स्थित था) आकर ठहरी हुई थी, जहाँ वे अपने पशु चराते तथा दूध-मक्खन बेचते थे। अत. श्रीकृष्ण के जन्म को गुप्त रखने के लिए किसी ऐसी जाति से सहायता लेना कुछ अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है, क्योंकि वहाँ पर श्रीकृष्ण के छिपाए जाने का बहुत कम संदेह हो सकता था। फिर कंस को भी यह शंका नहीं हो सकती थी कि इन रमते चरवाहों की मंडली में एक राजकुमार यों पाला जा रहा है। हम ऊपर कह आए हैं कि वसुदेव जी के दूसरे पुत्र बलराम भी गोकुल पहुँचा दिये गये थे और वह भी गोपियों के पास पालन[1] हेतु रखे गये थे। इस प्रकार दोनों भाई—बलराम और कृष्ण को इकट्ठे रहने का अच्छा अवसर मिला। कृष्ण के बचपन के समय की बहुत-सी आश्चर्यजनक घटनाएँ वर्णन की जाती है। उनको परमेश्वर का अवतार मानने वाले भक्तों ने उनके जीवन की सामान्य घटनाओं का भी ऐसी रँगीली भाषा में वर्णन किया है जो किसी विचारवान के लिए कदापि विश्वसनीय नहीं हो सकतीं। पर इनके भक्तों का तो यही आशय था।

सांसारिक सामान्य बातों के लिए अलौकिक शब्द प्रयोग नहीं हो सकते अत: हर एक महापुरुष बहुत-सी ऐसी बातों का कर्ता वर्णन किया जाता है जो जनसाधारण की दृष्टि मे अलौकिक तथा आश्चर्यजनक दीख पड़ती हैं। प्रत्येक महापुरुष के अनुयायी तथा भक्तों ने उसके बचपन की घटनाओं को इस प्रकार अलंकृत कर दिया है कि वे लौकिक से अलौकिक हो जाती है, पर विचारवान पुरुष अपनी विवेचना-शक्ति द्वारा उन अलौकिक व्यवहारों में से भी कुछ-न-कुछ सत्य अवश्य निकाल लेता है। कृष्णचन्द्र ने अपने बचपन में गोकुल में रहकर जो अलौकिक कार्य किये हैं उनका हम यहाँ संक्षिप्त विवरण लिखते है—

---

1 अब भी बहुत लोग अपने बच्चों को पहाड़ी दाइयों के हवाले कर आते हैं, और उनके वय प्राप्त होने पर उन्हें अपने घर ले आते हैं।

(1) कृष्णचन्द्र को गोकुल पहुँचे अभी बहुत दिन नहीं बीते थे कि पूतना नाम्नी एक 'राक्षसी' रात को नन्द के घर में घुस आई और कृष्ण को उठाकर निज स्तन से दूध पिलाने लगी । उसके दूध में ऐसा विष भरा था कि यदि कोई दूसरा पान करता तो मर जाता, परन्तु कृष्ण ने इतने वेग से उसके स्तन को मुख मे लेके खींचा कि वह चिल्ला उठी । उसकी चिल्लाहट से बहुत स्त्री-पुरुष एकत्र हो गए ।

इस घटना की सत्यता यों प्रतीत होती है, कि कृष्ण 'पूतना' नामक रोग में ग्रसित हो गये होंगे । चिकित्सा के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुश्रुत' में 'पूतना' नामक एक भयंकर रोग बताया गया है जिसकी पीड़ा से छोटे बच्चे प्रायः मर जाया करते है ।[1]

(2) दूसरी बात इस प्रकार वर्णन करते है कि यशोदा कृष्ण को अपने छकड़े के नीचे लिटाकर आप वस्त्र धोने चली गई । कृष्ण सो रहे थे । जब जागे और माता न मिली तो भूख से व्याकुल हो चिल्लाने लगे और इतने जोर से लातें मारने लगे कि वह छकड़ा जिस पर घड़े इत्यादि रखे हुए थे उलट गया जिससे सब बर्तन आदि टूट गए पर कृष्ण के चोट नही आई और वे फिर सो गये । जब यशोदा आई तो बच्चे को सोता पाया । वह इस घटना को देख चकित हो गई । फिर उसने और नन्द ने मिलकर उन टूटे हुए घड़ों और बर्तनों की पूजा की और उन पर दही और फल-फूल चढ़ाये । पाठक वृन्द ! क्या आपने नहीं सुना, कि किसी मकान की छत गिर गई और उसमें जो बालक सो रहे थे सही-सलामत सोते पाए गए । यदि ऐसी घटनाएँ खोजी जायें तो बहुत मिलेंगी जिनमें छत गिर गई हो, चारपाइयाँ टूट गई हों, उन पर सोये बालकों को कोई चोट नहीं लगी । शेष रही यह बात कि कृष्ण की लात की चोट से छकड़ा उलट पड़ा तो इसका यथेष्ट प्रमाण ही क्या है ? फिर भी यह कोई ऐसी अलौकिक या असभव घटना नहीं कही जा सकती । संभव है छकड़ा उस तरह खड़ा हो कि उस पर तनिक ठोकर लगने से वह गिर पड़ा हो, अथवा किसी पशु ने गिरा दिया हो या किसी अन्य कारण से गिर पड़ा हो ।

(3) तीसरी घटना[2] यह है कि एक उड़ने वाला राक्षस (कदाचित् कोई पखेरू हो) तृणावर्त उनको लेकर उड़ गया परन्तु बालक में इतना बोझ था कि तत्क्षण भूमि पर आ गिरा । बच्चा तो बच गया पर वह स्वयं वहीं मर गया ।

---

1 इस घटना के विषय मे पुराणों में बड़ा मतभेद है, यथा—विष्णुपुराण में लिखा है कि 'पूतना' ने रात को सोते हुए कृष्ण को उठाकर निज स्तन से लगा लिया और दूध पिलाने लगी । चिल्लाहट सुनकर यशोदा जागी इत्यादि ।

भागवत की कथा यह है कि एक दिन जब यशोदा मंदिर में विराजमान थी तो पूतना एक स्त्री का सुन्दर रूप धारण करके उसके पास जा बैठी और अपनी बातो से यशोदा को मोह लिया और चुपके से कृष्ण को उसकी गोद से अपनी गोद मे ले लिया और छातियों से दूध पिलाने लगी । हरिवंश पुराण मे 'पूतना' एक पक्षी को कहा गया है ।

वर्तमान समय की मिलावट का हाल इसी से प्रकट होता है कि इस घटना के बाद यशोदा को बच्चे की रक्षा के लिए टोटके-टोने कराने पड़े और मंत्र, यंत्र तथा तावीज गले में लटकाने पड़े । कहाँ तो यह कथन कि महाराज कृष्ण ईश्वर थे और कहाँ उनकी रक्षा मे टोने-टोटको की आवश्यकता हुई । साराश यह कि इनका परस्पर विरोध ही इनकी असत्यता को भली भाँति प्रकट कर देता है ।

2 इस घटना के स्मारक रूप में महावन मे एक कोठरी बनी हुई है जहाँ कृष्ण की मूर्ति बनाकर उस पर दो पग का छकड़ा टंगा हुआ है

हम प्रतिदिन ऐसी बातें देखते हैं, जिनमें परमात्मा बड़ी तत्परता से अबोध बालकों की रक्षा किया करते हैं। कई बार बालक छत से गिर पड़ा है पर उसे तनिक भी चोट नहीं आई। तात्पर्य यह कि ये सारी घटनाएँ ऐसी हैं जिनमें से यदि कवियों की अत्युक्ति निकाल दी जाये तो उनमें असंभवता की गन्ध भी नहीं रह जाती और न उन्हें अमानुषी कहने का साहस पडता है।

एक वर्ष बीतने पर वसुदेव ने अपने पुरोहित गर्ग को भेजा जिसने गोपनीय रूप से उनका नामकरण संस्कार कर दिया। रोहिणी के बालक का नाम बलराम और देवकी के पुत्र का कृष्ण रखा गया।

ये दोनों बालक ज्यों-ज्यों बड़े होते गये उनकी चंचलता भी बढ़ती जाती थी। इनमें कृष्ण विशेष चतुर और चंचल थे। रेंगते-रेंगते पशुओ में जा घुसते और छोटे-छोटे बछड़ों से खेला करते। दूध-दही के बरतनों को उलट देते। जब टाँगों में थोड़ा बल आया तो इनके ऊधम ने और भी रंग पकडा। घर से निकल जाना, दूसरों के घरो में जाकर हँसी-मजाक करना, बछडो या गउओं की पूँछ खीचना इत्यादि बातें ऐसी थीं जो एक चंचल, चतुर तथा बुद्धिमान लडके मे हुआ करती हैं और जिनसे तंग आकर उनके माता-पिता या शिक्षक उन्हें ऊधमी कहने लग जाते हैं, क्योंकि उनको ऐसे चंचल लड़कों के शिक्षण का ढंग नहीं आता। वह स्वयं इसके ढग से अनभिज्ञ होते हैं। इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि कृष्ण अपनी बाल्यावस्था मे बडे चंचल तथा ऊधमी थे। अपने कामों को बड़ी फुर्ती से करते थे। भय तो कभी इनके पास नही फटकता था। उत्तर देने तथा हँसी-मजाक में भी वैसे ही प्रवीण थे। पुराण तो इनके हँसी ठट्ठे का यहाँ तक वर्णन करता है कि वह पड़ौसियों का दूध पी जाते थे, दही खा जाते थे और यदि इस बीच में कोई आ निकलता तो दूर सामने खड़े हो उपहास की बाते कहने लग जाते। सारांश यह कि कृष्ण अपने समकालीन बालकों से प्रत्येक बात में बढ़े-चढ़े थे। गोप बालकों की मंडली में बैठे हुए या फिरते हुए भी एक विचित्र आनबान रखते थे और अपने साथियों में नेता और बड़प्पन के रंग-ढंग दिखाते थे।

निडर ऐसे थे कि कैसी ही मरखनी गाय या साँड से न डरते, भेड़ियो व दूसरे जगली जानवरों से निर्भय बन में घूमा करते थे। यशोदा बिचारी इधर-उधर ढूँढ़ा करती, उन्हें देखते ही बिजली की तरह वे कहीं छिप जाते। कभी यमुना मे जा घुसते। रात को जब सो जाते तो वह समझती कि आज का दिन कुशलता से बीता। इतने चंचल होते हुए भी वह सबको प्यार लगते थे; क्योंकि एक तो वह ऐसे रूपवान थे कि सब छोटे-बड़े उनसे प्रेम रखते, दूसरे इनकी चंचलता इतनी मोहक थी, जो कठोर से कठोर हृदय को भी शांत करके हँसा देती थी। तीसरे, अपने हमजोलियों मे वह सर्वप्रिय थे। उनकी बात सब मानते। उनसे जुदा होना उन्हे खटकता। वे दिन-भर उन्हे अपनी हास्यप्रद बातों से हँसाया करते। नाचते ऐसे कि देखने वाला हँसते-हँसते लोटपोट हो जाता। बोली ऐसी सुरीली कि छोटी उमर में गडरियो के गीत गाकर भीड़ अपने पास जमा कर लेते। कुछ बड़े होने पर वंशी बजाने में प्रवीण हो गए थे। इन सब गुणों ने मिलकर उस जंगली (गोप) जाति को ऐसा मोहित कर लिया था कि वे

उनके (कृष्ण के) भक्त हो गए । कृष्ण ने गडरियो, चरवाहों, किसानों, तथा जमीदारों के बीच ऐसे गुण प्रकट किए, जिससे प्रत्येक छोटा-बड़ा उनकी ओर खिचने लगा ।

समय के फेर ने उन्हें महलों के बदले घास-फूस की झोपड़ियों का मुँह दिखलाया । सुन्दर-सुन्दर सवारियो के स्थान में छकड़े की सवारी दी । धनुष-बाण तथा ढाल-तलवार के बदले गाय हॉकने का डंडा हाथों में पकड़ाया । बहुमूल्य सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण न देकर तन ढँकने को एक लँगोटी दी । शस्त्रविद्या से युद्ध करने की शिक्षा की अपेक्षा बनैले पशुओ से मल्लयुद्ध करना सिखाया और संगीतशास्त्रज्ञों से शिक्षा न दिला कर देहाती वशी पर संतोष कराया । कुटिल काल ! तू बडा प्रबल है, तेरे हथकण्डों से न कोई बचा है और न बचेगा ।

पर यह सब बातें उन्हें ऐसी भाईं और उन्होंने अपनी विपत्ति से भी ऐसा लाभ उठाया कि उन सब कठिनाइयों ने उनके स्वाभाविक, सौजन्य तथा जातीय कुलीनता को और भी निर्मल बना दिया ।

उन गोपों की मंडली में किसी-किसी को ही यह मालूम था कि इस चंचल लड़के के वेष मे एक राजकुमार पल रहा है, जो समर्थ होकर अपने माता-पिता के शत्रुओं का सिर कुचलेगा और अपने रक्त के प्यासों का लहू पिएगा । जो अपने देश और अपनी मातृभूमि को अत्याचारी शासकों के पजे से छुड़ाकर उनका उद्धार करेगा । फिर विद्या और शास्त्र की शिक्षा पाकर ऊँचे से ऊँचे धर्म का उपदेश करेगा और अन्त मे अपने पीछे अपना शुद्धाचरण छोड़ जायेगा ताकि लाखों वर्ष तक लोग उसको परमेश्वर की पदवी देकर उसका पूजन करें ।

बिचारी यशोदा कृष्ण के ऊधम से ऐसी तंग आ गई थी, कि उसने हार मानकर एक दिन उनकी कमर में रस्सी डाल दी और उस रस्सी को लकड़ी की एक ओखली से बॉध दिया । पर ज्योंही यशोदा ने पीठ मोड़ी, कृष्ण ने रस्सी तोड़ना आरम्भ किया और ऐसा जोर लगाया कि ओखली को भी साथ खींच ले चले । उनके आँगन में अर्जुन[1] के दो वृक्ष थे, ओखली वृक्षो मे फॅस गई । कहते है, कि जब कृष्ण ने दूसरी बार जोर लगाया तो वे वृक्ष जड़ से उखडकर गिर पड़े । इस पर इतना कोलाहल मचा कि सारा गाँव उमड़ आया । कृष्ण लोगों को देखकर हॅसने लगे । हम नहीं कह सकते कि इस घटना में कहाँ तक सत्य है । पहली बात तो कुछ असम्भव नहीं जान पड़ती, पर दूसरी बात अर्थात् एक छोटे-से बच्चे के बल से दो बडे वृक्षो का जड़ से उखड़ जाना कदापि सम्भव नहीं । हॉ, यदि उन्हें बड़े वृक्ष की अपेक्षा छोटा पौधा मान लें तो झगड़ा मिट जाता है । पर ऐसा जान पड़ता है कि कृष्ण के भक्तों ने इन पौधों को अत्युक्ति से बढ़ाते-बढ़ाते बड़े वृक्ष की पदवी प्रदान कर दी है जिनके बोझ से आधा गॉव दब गया ।

अवतारों की अमानुषी शक्ति के मानने वालों के लिए (चाहे वे किसी जाति के हों) इन सब कथाओं को सर्वतोभाव से सत्य मान लेने मे कुछ संदेह नहीं होना चाहिए । हाँ, जो महाशय उनकी अमानुषी शक्ति को नही मानते, वे अपने परिणाम आप निकाल लेगे ।

---

1 यह वर्णन विष्णुपुराण मे नहीं है । मिस्टर पॉल जिन्होने अँगरेजी में कृष्ण की जीवनी लिखी है, लिखते हैं कि अर्जुन एक छोटे से पेड़ का नाम है जिसको अँगरेजी और बंगला में चौंची कहते हैं

पाँचवाँ अध्याय

गोकुल से वृन्दावन गमन

इसी प्रकार गोकुल में रहते जब कुछ काल बीत चुका तो गोपों ने जातीय स्वभाव अथवा आवश्यकतावश अपना निवास-स्थान बदलना चाहा और गोकुल से कुछ दूरी पर एक बन पसन्द किया, जिसका नाम वृन्दावन रखा[1] गया। गोपों ने गोकुल में मिट्टी और ईंट के घरद्वार तो बनाए नही थे जो उन्हे उनके छोड़ने में कठिनता होती। विचार करते ही सारी आबादी अपना डेरा-डंडा उठा, अपने छकड़ों और पशुओं को आगे हाँक वृन्दावन की ओर चल दिए और वहाँ जाकर गोकुल की तरह एक बस्ती बना ली। ऐसा जान पड़ता है कि वृन्दावन को चरागाह तथा घास-पात की बहुतायत के विचार से पसन्द किया था। स्थानों का यह परिवर्तन प्रत्येक प्रकार मे कृष्ण के अनुकूल पड़ा। अब उनकी वंशी की सुरीली गूँज से सारा वृन्दावन गूँजने लगा। आसपास के वन-वाटिका का कोई स्थान कृष्ण और उनके साथियों से छिपा न रहा। जहाँ लहलहाती हरियाली देखते वहीं गायों को हाँक ले जाते। गौवें हरी घास से पेट भरतीं, आनन्दपूर्वक स्वच्छ वायु में अठखेलियाँ करतीं, उधर ये लड़के किसी छाया में बैठ गाने-बजाने का आनन्द लूटते। सन्ध्या को अपने पशुओ को हाँकते हुए अपने ग्राम में आ जाते। भोजन से छुट्टी पाने पर सारा गाँव, क्या बाल क्या वृद्ध, सभी एकत्र होते और कृष्ण की वंशी सुनते। युवा और युवतियाँ तो कृष्ण की वंशी पर ऐसे लट्टू थे कि जब वह वंशी बजाते तो इनके दल के दल एक वृत्त बनाकर उसके गिर्द नाचते, चक्कर लगाते और बाकी सब तमाशा देखते।

जंगल में जब कभी कोई जंगली पशु मिल जाता तो सबके सब मिलकर उसका पीछा करते और या तो उसको मार डालते या भगा देते। ऐसी घटनाओं का पुराणों में प्राय: वर्णन किया है। हम उनमें से कुछ को यहाँ उद्धृत करते हैं—

(1) एक दिन का वर्णन है कि कृष्ण और बलराम अपने साथियो सहित गौवें चरा रहे थे। साथियो में से किसी लड़के ने कहा कि इस बन में एक जगह खजूर (वृक्ष-विशेष) का कुज है जिसमें बड़ी और मीठी खजूरें (फल) लगी हुई हैं। पर उस कुंज के बीच मे एक भयकर

---

1 जंगलो मे घूमने वाली ये जातियाँ यदि स्थिर होकर एक स्थान मे बस जायें तो फिर वे अस्थिर जातियाँ न कहलाय दूसरी जातियो के समान शहरों व देहातो की आबादियों में मिल जाएँ और न इस कदर पशु रख सकें जितने कि व इस अवस्था मे किसी खर्च के बगैर रख सकती है। ये जातियाँ इसी मे प्रसन्न रहती हैं कि किसी स्थान पर सर्वदा के लिए न रहें। अपनी इच्छा से समय-समय पर घर बदला करती हैं। जब किसी एक जगह से उनका जी भर जाता है या वहाँ पर उनके पशुओ के लिए पूरी हरियाली नही रहती, तो वे उसी समय अपना डेरा उठा किसी दूसरा जगह झोपड़ी डाल देती हैं। हरिवंशपुराण मे इस स्थान व गृहों के बदलने का कारण यह लिखा है कि गोकुल मे भेड़ियों का आतंक इतना बढ़ गया कि गोप लोगों ने अपने जान व माल को बचाने के लिए इस जगह को छोड़ देना [illegible] समझा

पशु है जिसके भय से वहाँ कोई नहीं जाता । यह सुन कृष्ण और बलराम वहाँ जाने को तैयार हो गए और वहाँ जाकर ईंट और पत्थर चलाने लगे । ईंट और पत्थर की मार से वह पशु चौंका और भयभीत हो बाहर निकला (पुराणों में इस पशु का नाम धनुके है, और शकल गदहे की लिखी है) । जब वह सामने आया तो लड़कों ने उस पर ढेले बरसाना आरम्भ किया । यहाँ तक कि वह बिचारा चोटों से मर गया ।

(2) ऐसे ही अरिष्ट नामी साँड से लड़ाई का वर्णन है ।

(3) तीसरी लड़ाई केशी नामी घोड़े से हुई और कृष्ण ने उस पर जय प्राप्त की । फिर एक लड़ाई (कालिय नाग) से हुई ।

कहते हैं कि यमुना के एक भाग में जहाँ एक झील-सी बन गई थी, कालिय नामक एक नाग रहता था जिसके भय से कोई उधर फटकने नहीं पाता था । कृष्ण एक दिन संयोग से वहाँ जा पहुँचे और कालिय ने उन्हें आ घेरा । कृष्ण उससे भिड़ गए और कुछ देर लड़ाई होने पर कालिय घायल होकर भाग निकला ।[1]

पुराणों में इन्हीं घटनाओं को अमानुषी कहा है और वे इन पशुओं को दैत्य या राक्षस लिखते हैं, पर हमें तो इनमें कोई ऐसी असाधारण बात दिखाई नहीं देती जो इन घटनाओं को मनुष्य कृत मानने में तनिक भी बाधा डालती प्रतीत हो । गाँव में पशु चराने वाले लड़कों से आए दिन ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं । ग्रामीण बालकों की मंडली में कृष्ण और बलराम का नेता बन जाना कौन-सी बड़ी बात थी ?

एक क्षत्रिय कुल का युवराज, जिसको विधाता ने राज्य करने को बनाया था पर जो काल की कुटिल गति से ग्रामीण चरवाहों की मंडली में आ गया, यदि वह एक छोटी-सी बस्ती में सबका शिरोमणि बन जाये तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं । यदि उस पुरी में उसका डंका बजने लगा तो यह कोई विचित्र बात नहीं थी । सारा बन उसके मीठे गान से गूँज उठा । सर्वत्र उसकी शूरता सराही जाने लगी । गोपों और ग्वालों के लड़कों पर कृष्ण और बलराम राज्य करने लगे । ये दोनों राजकुमार जंगली बालक सेना के सेनापति बन बैठे । ये उनकी बनावटी लड़ाइयाँ आगे का परिचय देती थीं जब उन्हें सचमुच युद्ध की रचना करनी होगी । उनकी मनमोहिनी वाणी मानो उस वशीकरण के सदृश थी जिससे उन्होंने सारी सृष्टि को अपने वश में कर लिया था । जिससे मानो स्वर्ग का द्वार खुल गया और मोक्ष का मार्ग सुगम हो गया था । जिस बालक ने बचपन में बनैले पशुओं का वध करके मनुष्यों का उपकार करना सीखा हो वह वयप्राप्त होकर अत्याचारी दुष्टात्माओं को अत्याचार या अनुचित कार्य करने से कैसे न रोकता ? वह अपने अन्तिम समय तक यही शिक्षा देता रहा कि दुष्टों को, चाहे वे पशु हों या मनुष्य, सदा दण्ड देते रहना चाहिए जिससे परमेश्वर की निरीह प्रजा उनके अत्याचारों से सुरक्षित रहे ।

---

1 इसके दो अर्थ हो सकते हैं, एक यह कि यमुना के किसी भाग में 'कालिय' नामक कोई सर्प रहता था और कृष्ण ने उसे वहाँ से भगा दिया । दूसरा यह कि नाग जाति का कोई सरदार 'कालिय' नामक वहाँ रहता था जो गोपों को कुछ हानि पहुँचाता था । कृष्ण ने इस सरदार को लड़ाई में हराकर उस जंगल में से भगा दिया । मि० पॉल यही दूसरा अर्थ समझते हैं क्योंकि पुराणों में कालिय को मनुष्य माना है और उसकी स्त्रियों [illegible] तथा दूसरे आभूषणों का वर्णन किया है

छठा अध्याय

रासलीला का रहस्य

हिन्दुओं मे कृष्ण के नाम पर एक प्रथा प्रसिद्ध है जिसे रासलीला कहते हैं । इस रासलीला के विषय मे अनेक मिथ्या बातें जनसाधारण में फैली हुई हैं जिससे कृष्ण के निर्मल नाम और यश पर धब्बा लगता है । यहाँ तक कि लोग उसी आशय से कृष्ण को विषयी और दुराचारी बताते है । लाखों हिन्दू तो कृष्ण का नाम केवल रासलीला के संबंध से ही जानते हैं । वे न कृष्ण की उच्च शिक्षा से परिचित हैं और न उनको यह ज्ञात है कि कृष्ण ने अपने जीवनकाल में अपने देश के लिए क्या-क्या कार्य किए और इतिहास उनको किस प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता है । वे केवल उस कृष्ण से परिचित हैं और उसी की पूजा-अर्चना करते हैं जो रासलीला में गोपियों के साथ नाचता और गाता था ।

इस प्रवाद में जहाँ तक सत्य का अंश है और जहाँ तक श्रीकृष्ण के जीवन से संबंध है, उसे हम पिछले अध्याय में दिखा चुके हैं । इससे अधिक, इसके अतिरिक्त जो कुछ कहा जाता, किया जाता, अथवा सुना जाता है वह मिथ्या है ।

स्मरण रखना चाहिए कि कृष्ण और बलराम 12 वर्ष से अधिक गोप लोगो मे नही रहे । 12 वर्ष की अवस्था में या उसके लगभग अथवा उससे कुछ पश्चात् वे मथुरा चले आए और फिर यावज्जीवन उनको कभी गोकुल एवं वृन्दावन में जाने का अवकाश नहीं मिला, यहाँ तक कि उन्हें मथुरा भी छोड़नी पड़ी । ऐसी दशा में विचारना चाहिए कि गोपियों से प्रेम या सहवास करने का उन्हें कब या किस आयु मे अवसर मिला होगा ।

अत: वह उन सब अत्याचारो के कर्त्ता कैसे कहे जा सकते है जो उनके नाम से रासलीला या ब्रह्मोत्सव में दिखाये जाते है । हिन्दुओं की सामाजिक अधोगति की यदि थाह लेनी हो तो केवल ब्रह्मोत्सव देख लेना चाहिए । संसार की एक ऐसी धार्मिक जाति जिसकी धर्मोन्नति किसी समय जगद्विख्यात थी, आज अपने उस धर्म पर यों उपहास करने पर उतारू हो गई है । धर्म के नाम पर हजारो पाप करने लगी है और फिर आड़ के लिए ऐसे धार्मिक महान् पुरुष को चुन लिया है जिसकी शिक्षा में पवित्र भक्ति कूट-कूटकर भरी हुई है ।

दु:ख की बात है कि हमने अपने महान् पुरुषों का कैसा अपमान किया है । कदाचित् यह इसी पाप का फल है कि हम इस अध:पतन को पहुँच गए और कोई हमारी रक्षा नहीं कर सका ।

रासलीला का यथार्थ चित्र तो इस प्रकार है कि वर्षा की ऋतु है । चारों ओर हरियाली लहलहा रही है । एक प्रशस्त मैदान में मीलो तक घास-पात या वनस्पतियों के अतिरिक्त और कुछ दीख नहीं पड़ता वृक्षों में फूल खिले हुए हैं और फल लटक रहे हैं प्रकृति देवी का

यौवन काल है। आकाश मंडल मेघो से घिर रहा है। मेघों का रह-रहकर मधुर स्वर से गरज जाना कानों को कैसा भला लगता है। कभी-कभी बिजली ऐसे वेग से इधर से उधर तड़प जाती है जिससे सारी पृथ्वी ज्योतिर्मयी हो जाती है। मेघ धीरे-धीरे बरस रहा है। पक्षिगण वृक्षों पर कलोल कर रहे हैं और उन्मत्त होकर पानी में स्नान कर रहे है। पत्तो पर पानी की बूँदें मोती सी दीख पड़ती हैं, और हाथ लगाते ही चूर-चूर हो जाती है। वायु के झोकों से वृक्ष जिस समय झूमने लगते हैं और उनसे पानी टप-टप चूने लगता है तो जान पड़ता है मानो अपनी प्रिया की चाह में आँसू बहा रहे है। उनके आँसुओ की बूँदें जिन पर पड़ती हैं उनके अशान्त तथा संतप्त हृदय को ठंडक पहुँचाती है। ऐसे सुहावने समय में प्रकृति मनुष्य के चित्त को चचल कर देती है। दुराचारी मनुष्य अपनी अपवित्रता में उन्मत्त प्रकृति देवी के इस पवित्र सौन्दर्य पर हस्तक्षेप करने लगते हैं, पर लज्जावश मनुष्य दृष्टि से छिपकर केवल कुछ मित्रों में ही ऐसा करने पाते हैं। परन्तु जनसाधारण का हृदय अपनी सरलता मे यों ही उछला पड़ता है। ऐसे सुहावने समय में प्रत्येक मनुष्य की कवित्व शक्ति उत्साहित हो गाने-बजाने की ओर जाती है। गोपों की छोटी-सी मंडली अपनी प्राकृतिक फुलवाड़ी में आनन्द मंगल से गाने-बजाने में मग्न है। बालक कृष्ण को वंशी बजाने की बड़ी चाह है। उसने इस बाजे में प्रवीणता भी प्राप्त की है। जब वह वंशी बजाता है तो उसके चारो ओर भीड़ लग जाती है। गोपों के लड़के और लड़कियाँ वृत्त बनाकर उसके चारों ओर खड़े हैं और नाचना तथा गाना आरम्भ करते है। इस मडली में जिसे देखिये वही इस रंग में रँगा हुआ दीख रहा है। ऐसे समय में कृष्ण भी वशी बजाते-बजाते नाचने लगते है। बस, यही रासलीला है और यही रासलीला की विधि है।

पाठक वृन्द ! यथार्थ तो बस इतना ही था जिस पर हमारे पौराणिक कवियो ने ऐसी-ऐसी युक्तियाँ लगाई, इतना ताना-बाना बुना कि बस पृथ्वी और आकाश को एक कर दिया। इन तांत्रिक कवियों ने कृष्ण का ऐसा चित्र खींचा कि यदि उसका सहस्रांश भी सत्य हो तो हम यह कहने में तनिक भी नहीं सकुचाएँगे कि कृष्ण अपने जीवन के इस काल में बड़े विषयी और कामातुर थे। आजकल के पौराणिक विद्वानो पर भी इस बात की पोल खुल गई है और वे इन प्रेम प्रहसनों से परमेश्वरीय प्रेम का सार निकालने की चेष्टा करते हैं। पर हमारी समझ मे यह चेष्टा वृथा है क्योंकि हम देखते हैं कि विष्णुपुराण में न तो राधा का वर्णन है, न गोपियो के संग कृष्ण की मुँहजोरियों का ही कुछ इशारा है और न चीरहरण की ही कहानी है। हरिवंश और महाभारत में भी इन बातों का कहीं वर्णन नहीं। ये सारी कथाएँ ब्रह्मवैवर्त और भागवत पुराण के कर्त्ताओं की गढ़न्त है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण वल्लभाचारी गोसाइयों का बनाया है, जिन्होंने देश में धर्म की आड मे कैसा जाल रच रखा है, और अकथनीय अत्याचार[1] किया करते हैं। उन्हीं के एक चेले नारायण

---

1. जैसे पुराणों मे एक कहानी है कि राधा की सहेली मानवती का विवाह एक बुढ़िया के पुत्र से हुआ। कृष्ण मानवती को देखकर कामातुर हो गये और अपनी मनोकामना पूरी करने पर तत्पर हुए, जिसके लिए अपनी ईश्वरीय प्रभुता काम में लाकर बुढ़िया के पुत्र का वेष धारण किया और उसके घर में जा घुसे और बुढ़िया को यह पट्टी पढ़ाई कि तू द्वार पर बैठ और यदि कोई भीतर आना चाहे तो न आने देना। यदि कोई तेरे बेटे का वेष बदलकर आये और कहे कि मैं तेरा बेटा हूँ—तब भी तू द्वार मत खोलना और खुद मानवती के सहवास का आनन्द लूटते रहे। (दिला गाउल साहब की पुस्तक 'मथुरा')

भट्ट ने 'व्रजयात्रा' और रासलीला की नीव डाली । जितनी पुस्तके राधा के प्रेम विषय की मिलती है वे प्राय: सब इसी पंथ के गोस्वामियों की रची हुई है ।

परमेश्वर जाने इन लोगों ने कृष्ण के जीवन को क्यों कलंकित कर दिया । जब उससे पहले के ग्रंथों में इन बातों का कहीं वर्णन नहीं, तो इन पर विश्वास करने का हमें कोई कारण नही दीखता ।

दूसरे, कई एक पुराणों के अनुसार कृष्ण की अवस्था उस समय जब (वे मथुरा में आये हैं) 12 वर्ष की थी तब यह कैसे संभव हो सकता है कि 12 वर्ष की अल्प आयु में उन्हे यह सब बातें प्रकट होतीं और उनके पास तरुण स्त्रियाँ भोग-विलास की इच्छा से आतीं और कामातुर हो उनसे अपना सतीत्व नष्ट करातीं । तीसरे, महाभारत मे प्राय: ऐसे स्थान आये है जहाँ कृष्ण को उनके शत्रुओ ने अनेक दुर्वचन कहे हैं और उनके जीवन के सब दोष गिनाये है । उदाहरणार्थ राजसूय यज्ञ के समय शिशुपाल क्रोध में आकर कृष्ण के अवगुण बताने लगा और उसके बचपन के सब दोष कह गया, पर उनके दुराचारी या विषयी होने का तनिक इशारा भी नहीं किया । क्या यह सम्भव था कि कृष्ण की जीवनी इतनी गंदी हो (जैसा कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है) और शिशुपाल क्रोधवश सभा के बीच उनके सब छोटे-बड़े अवगुण प्रकट करे, और इसका (जो महादोष कहा जा सकता है) वर्णन तक न करे ? वही अवसर तो उनके प्रकट करने का था, क्योंकि भीष्म पितामह ने सारी सभा में उसी को उच्चासन देना चाहा था ।

कृष्ण उनके समकालीन थे । यदि वास्तव में कृष्ण में ये दोष होते तो यह कैसे संभव था कि ऐसे-ऐसे धर्मात्मा महान् पुरुष उनका ऐसा सम्मान करते और सारे आर्यावर्त में उसका यो मान होता ? संस्कृत की प्राय: सभी पुस्तकों मे कृष्ण को 'जितेन्द्रिय' लिखा है । 'जितेन्द्रिय' उसको कहते है जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया हो । यदि कृष्ण का वास्तव मे राधा या मानवती से प्रेम था तो इन पुस्तकों में उन्हे जितेन्द्रिय क्यों लिखा ? रासलीला के नृत्य के विषय मे प्राचीन ग्रंथों से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वृत्त बनाकर नाचने की प्रथा सारे भारत मे थी । बहुत-से ग्रंथकार तो कहते हैं कि स्त्री-पुरुष मिलकर वैसे ही नाचते थे जैसे कि आजकल अँगरेजों में उसका चलन है ।

हाँ, 'चीरहरण लीला' की कथा भागवत में है, विष्णुपुराण, महाभारत और हरिवंश मे इसका वर्णन नहीं है । आजकल के पौराणिक पंडित तो इसको आलंकारिक बतलाते हैं । इसकी कथा इस प्रकार है । एक दिन गोपियाँ किसी सरोवर में नहा रही थीं । उनके वस्त्र किनारे पर रखे थे । कृष्ण संयोग से वहाँ आ पहुँचे । वे इसी ताक में छिपे बैठे थे और वे उन वस्त्रो को लेकर एक वृक्ष पर जा बैठे । जब गोपियाँ स्नान कर जल के बाहर आईं तो देखती हैं कि उनके वस्त्र नहीं हैं । इधर-उधर ढूँढ़ने पर देखा कि कृष्ण महाशय एक वृक्ष पर बैठे हैं और वस्त्रों की गठड़ी पास रख छोड़ी है ।

तब गोपियाँ अपने वस्त्र उनसे माँगने लगीं और हाथ जोड़कर विनती करने लगीं । तब कृष्ण ने कहा कि ''नंगी मेरे सामने आओ तो दूँगा ।'' अत: वे सब नंगी (वस्त्रहीन) उनके सामने

आई तब उन महाशय ने उनके वस्त्र लौटा दिये । आजकल के पौराणिक टीकाकार इसका सार यों निकालते हैं कि यहाँ पर 'कृष्ण' शब्द परमेश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है । यमुना से तात्पर्य परमेश्वर का प्रेम और गोपियों के वस्त्र से अभिप्राय सांसारिक पदार्थों से है । अतः इस कथा से यह भाव निकलता है कि परमात्मा के प्रेम में मग्न होकर मनुष्य को चाहिए कि किसी सांसारिक पदार्थ का विचार न करे, वरन् उनका ध्यान छोड़ दे । पर खेद है कि मनुष्य प्रेम की नदी मे स्नान करके भी उन्हीं पदार्थों के पीछे दौड़ता है । परमात्मा उसे पश्चात्ताप दिलाने हेतु उन पदार्थों को उठा लेता है जिससे उसका संबंध है । यहाँ तक कि वह मनुष्य अपने इष्ट पदार्थो के लिए कोलाहल मचाता है । परमात्मा उसकी पुकार सुनकर उसे अपने समीप बुलाता है । जब वह वस्त्रहीन आने मे संकोच करता है तो परमात्मा उसको यह उपदेश करता है कि मेरे पास नग्न आने में संकोच मत कर । मेरे पास आने में अपना तन वस्त्र से ढकने की आवश्यकता नहीं । स्वयं को सांसारिक पदार्थो से पृथक् कर मेरे पास आ । तब मैं तेरी सारी कामनाएँ पूरी करूँगा और तन ढकने को वस्त्र दूँगा ।

यह वाक्य रचना चाहे कितनी ही उत्तम क्यों न हो पर इससे भ्रम पड़ने की आशंका है । यदि इन सब कथाओं में ऐसी अत्युक्ति बाँधी गई है तो हमारी राय है कि इन अत्युक्तियों ने हिन्दुओं को बड़ी हानि पहुँचाई है और उनके आचार व्यवहार को भी बिगाड़ दिया है । परमेश्वर के लिए अब उनको छोड़ो और सीधी रीति से परब्रह्म परमेश्वर के सम्मुख उपस्थित होकर भक्ति और प्रेम के फूल चुनो । कम-से-कम कृष्ण जैसे महापुरुष को कलंकित मत करो । और किसी विचार से नही तो अपना पूज्य और मान्य समझकर ही उन पर दया करो । उन्हें पाप कर्म का नायक मत बनाओ और उन महानुभावों से बचो जो इस महापुरुष के नाम पर तुम्हारा व्रत बिगाड़ रहे हैं और तुमको और तुम्हारी ललनाओं को नरकगामी बनाते हैं ।

सातवाँ अध्याय

कृष्ण और बलराम का मथुरा आगमन और कंस-वध

आखिर यह कब तक संभव था कि यादव वंश के दो राजकुमार यों गोपों के वेष में छिपे रहते और कभी पहचाने नहीं जाते। कस्तूरी चाहे कितने ही वस्त्रों में क्यों न लपेटी जावे, उसकी गन्ध छिपाये नहीं छिप सकती। वैसे ही कृष्ण और बलराम का नाम-धाम भी कब तक गुप्त रह सकता था। उनकी आकृति और उनका चाल-चलन उनके वंश का परिचय देता था। उनका ऊँचा ललाट और विशाल नेत्र पुकार-पुकार कहते थे कि ये दोनों लड़के जन्म से गोप नहीं हैं और न दूध, घी या मक्खन बेचना इनकी जीविका है। जब इनको इस तरह रहते कुछ दिन बीत गये और उनके पराक्रम और शूरता की कहानियाँ चारों ओर फैलने लगीं तो धीरे-धीरे यह चर्चा हुई कि ये लड़के गोप नहीं हैं।

होते-होते कंस तक भी यह बात[1] पहुँच गई और उसे तत्काल यह शंका उत्पन्न हुई कि हो न हो, ये दोनों लड़के वसुदेव के हैं जो चोरी-चोरी गोपों के बीच पले हैं। कुछ ठहरकर उसको इसका विश्वास हो गया और फिर उसे यह चिन्ता लगी कि जिस तरह से हो, इन दोनो को पकड़कर यमलोक पहुँचाऊँ जिससे फिर कोई खटका न रहे। संसार के इतिहास में कस जैसे सैकड़ों जालिमों का पता चलता है जिन्होंने राज्य के लिए अपने वंश का विध्वंस कर डाला था। उनके क्रूर खड्ग ने न तो बच्चों को छोडा और न बूढ़ों को। जिन्होंने इसी तरह अपने किसी वीर शत्रु से छुटकारा पाने के लिए उनको शेर या किसी हाथी से मल्लयुद्ध कराया है। मुसलमान और राजपूतो के इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त[2] मिलते है। पाठक ! आप जरा इन पृष्ठो को खोलिये और विचारदृष्टि से देखिए कि वह जगत्-पिता जगदीश्वर कैसा न्यायकारी है और अपनी असहाय और पीड़ित प्रजा का कैसे संरक्षण करता है ? वह उन्हें ऐसी सहनशीलता प्रदान कर देता है कि वे हर एक कष्ट को सहन कर अपने को बचा लेते हैं और इन पर अत्याचार करने वाले अपनी सारी शक्ति के रखते हुए भी उन्हीं के हाथों नीचा देखते है।

---

1 विष्णुपुराण कहता है कि नारद ने कंस को बहकाया कि वे दोनों लड़के वसुदेव के हैं। इधर तो कंस को यों बहकाया कि जब तक ये दोनों लड़के जीवित है तब तक तेरा राज्य सुरक्षित नहीं उधर कृष्ण और बलराम को बदला लेन के लिए तत्पर किया।

2 कर्नल टॉड ने ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी हैं। उनमे से एक मुकुन्ददास राठौर की है जिसको औरंगजेब ने जावित शर के पिंजरे मे बन्द कर दिया था। जगल का शेर राजपूतनी के बच्चे से आँख न लड़ा सका और मुकुन्ददास सही सलामत पिंजरे से निकल आया—

वह भी अकेला बिना किसी शस्त्र के शेर पर किजयी हुआ

कृष्ण और बलराम का हाल सुनकर कंस को लगा कि अब मेरा अन्त आ पहुॅचा । उसे अब निश्चय हो गया कि जो आगमवाणी देवकी के विवाह के समय हुई थी उसके पूरा होने का समय अब आ पहुँचा है । दुष्ट कंस ! तू किस नींद मे सो रहा है । तेरे क्रूर हाथ से सृष्टि को छुड़ाने वाला, तुझसे बदला लेने वाला अब आ पहुँचा । तेरी सारी युक्तियाँ उसका बाल बॉका करने में निष्फल हुईं । यद्यपि उसके वध करने की इच्छा से तूने सैकड़ों अबोध बालको का वध कर डाला पर जिसको बचाना मंजूर था, उसे विधाता ने बचा ही लिया ।

बादशाही महलों में न पलकर प्रकृति के महलों में उसने परवरिश पाई और जंगली जानवरो के पड़ौस में प्रकृति ने उसे उन कठोर बातों की शिक्षा दी जो दुष्टों के वध करने के लिए बहुत आवश्यक है । सारी बाल्यावस्था में वह यही शिक्षा पाता रहा कि अपने शत्रु पर दया करना धर्म नहीं । समय ने उसको दुष्टों के लिए निर्दयी बनाकर उससे वह काम कराया जिससे बचने के लिए उसके सारे भाई-बहनों का वध हुआ था । पाप और अहंकार के वश होकर कंस को कभी विचार भी नही हुआ कि जिसको परमात्मा बचाना चाहता है उसे दुनिया की कोई शक्ति नही मार सकती ।

सारांश यह कि कंस अब उनके वध को तैयार हुआ और अब की यह तदबीर निकाली कि चतुर्दशी के दिन जो दंगल हुआ करता है, उसमें कृष्ण और बलराम को न्यौता दिया और यादव वंश के एक माननीय सरदार अक्रूर को उनको लेने भेजा । विष्णुपुराण कहता है कि चलती बार कंस ने अक्रूर से अपना भीतरी अभिप्राय कह दिया था । यह सच हो या न हो, पर अक्रूर जिस समय वृन्दावन में पहुँचा और उसकी दृष्टि दोनों भाइयों पर पड़ी तो वह उनके रूप पर मोहित हो गया और उन पर दया दिखाकर उन्हें यथार्थ भेद बता दिया । कंस से लोग ऐसे पीड़ित थे कि कदाचित् अक्रूर ने कृष्ण और बलराम को कंस के विपरीत बहका दिया हो तो इसमें संदेह नहीं । पर फिर भी यह भेद जानकर उनके हृदय में भय न समाया और गोपो को साथ लेकर वे अक्रूर के साथ मथुरा चले और सूर्यास्त के बाद वहाँ पहुँचे । आते ही पहले कस के धोबी से उसकी मुठभेड़ हुई । वह कुछ क्षुद्रता से पेश आया यहाँ तक कि विवाद[1] बढ़ गया और वह उनके हाथ से मारा गया । इसके पश्चात् उनका ऐसा प्रभाव हो गया कि जिस वस्तु की उन्होंने इच्छा की, वह उन्हें मिलती गई ।

उधर कंस ने यह आज्ञा दी कि जिस समय कृष्ण और बलराम दंगल में पैर रखें उसी समय एक मस्त हाथी उनके ऊपर छोड़ दिया जाये । यदि इस हाथी से वे बच निकलें तो फिर राज्य के दो बड़े पहलवानों से उनका मल्लयुद्ध कराया जाय । दूसरे दिन ऐसा ही हुआ । जब दोनों भाई दंगल में आए तो एक उन्मत्त हाथी उन पर छोड़ा गया । उन्होंने बड़ी शूरता से उसका मुकाबला किया और उसको मारकर आगे बढ़े । फिर दो बड़े बलवान पहलवान उनसे भिड़ने के लिए सामने आए । दंगल के चारों ओर भीड़ हो रही थी । स्वयं महाराज कंस एक मडप के नीचे विराजमान थे । रानियाँ अलग एक मंडप में से तमाशा देख रही थीं । बाकी सारी सेना

---

1 कहते हैं कि कृष्ण, बलराम आदि सैर कर रहे थे । उन्होंने कंस के दरबार मे जाने के लिए धोबी से वस्त्र माँगे और इसी पर विवाद बढ़ा

और प्रजा अपने स्थान पर विराजमान थी । एक ओर वसुदेव और देवकी बैठे अपने प्यारे पुत्रों के प्राणों की रक्षा की कामना कर रहे थे । उनके समीप ही वृन्दावन के गोप बैठे हुए दोनों भाइयों के कारनामे देख रहे थे । चारों ओर सन्नाटा छा रहा था । हाथी के साथ मल्लयुद्ध होते देखकर सारी सभा जय-जयकार की ध्वनि से गूँज उठी । जब यह कोलाहल कुछ कम पड़ा तो क्या देखते हैं कि दो हृष्ट-पुष्ट पहलवान इनका मुकाबला करने के लिए आगे आए हैं । इस पर लोगों को क्रोध आया और चारों ओर से त्राहि-त्राहि की ध्वनि करने लगे । पर महाराज कंस के बैठे रहते किसकी चल सकती थी । लड़ाई शुरू हुई । एक-एक पहलवान एक-एक राजकुमार से भिड गया और आपस में हाथापाई होने लगी । परिणाम जो विचारा था, वही हुआ । यादववंशीय राजकुमारों के आगे किराये के टट्टू ठहर नहीं सके और पटकनी खा गये । उनके पटकनी खाते ही कंस के आगे अँधेरा छा गया । इतने ही में गोपों के लडकों ने आकर कृष्ण और बलराम के साथ जयकार किया और विह्वल हो नाचने लगे । इनका नाचना कंस के घायल हृदय पर नमक के तुल्य था । महाराज कंस इनकी ढिठाई देखकर जल गया और आज्ञा दी कि अभी ये सब लड़के कृष्ण और बलराम सहित सभा से बाहर निकाल दिये जायें और वसुदेव का कठोरता से वध किया जाय । नन्द को बन्दी किया जाय । पर बलराम और कृष्ण की शूरता को देखकर किसी का साहस न हुआ कि कोई इन आज्ञाओं का पालन करता या उसके लिए आगे बढ़ता । लोग तो पहले से ही कंस से दुःखित थे और चाहते थे कि किसी तरह उससे छुटकारा मिले । सारांश यह कि सारी सभा में से कोई भी उसकी आज्ञा पूरी करने के लिए नहीं मिला । कंस यह लीला देख अनाथ की भाँति बैठा था और सोच रहा था कि मेरा सारा किया-कराया मिट्टी में मिल गया । इतने ही में कृष्ण कूदकर उस मंडप में आ गये जहाँ कंस विराजमान था और आते ही आव देखा न ताव, कंस को बालों से पकड़[1] कर भूमि पर दे मारा । कुछ देर तक दोनों में लड़ाई हुई और अंत में प्रतापशाली कृष्ण के हाथ से वह मारा गया । कंस से उसकी प्रजा ऐसी आतुर हो गई थी कि इतनी भीड़ में से किसी ने भी उसको बचाने का यत्न नहीं किया । ऐसा लगता था लोगों ने इस अवसर को दुर्लभ समझा और दोनों प्रतिपक्षियों को अपने आप में निपट लेने का अवसर दिया । हाँ, कंस का भाई सुमाली आगे बढ़ा । उसको बलराम ने पकड़ लिया और मार डाला ।

---

1 भागवत से मालूम होता है कि कंस और कृष्ण का मुकाबला हुआ और कंस के जो आठ भाई थे वे भी वहं और मारे गए

आठवाँ अध्याय

उग्रसेन का राज्यारोहण और कृष्ण की शिक्षा

जब कंस के वध की सूचना उसकी रानियों तक पहुँची तब उन सबने विलाप करना आरम्भ किया। उधर उग्रसेन और कंस की माता भी रो-रोकर कोलाहल मचाने लगी। राजमहल के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के चेहरे पर भय और शोक दिखाई पड़ रहा था। कंस के इस दु:खान्त परिणाम को देखकर लोग उसकी अनीतियों की बात तो भूल गए और उसके रक्त से भरे मृत शरीर को देख लगे रोने तथा विलाप करने। घृणा का बदला लेने का भाव तो जाता रहा; उसकी जगह उनमें दया और दुख का संचार होने लगा। कृष्ण को भी इस शोक में सम्मिलित होना पड़ा। इसके बाद कृष्ण और बलराम वसुदेव और देवकी की ओर बढ़े और अपना माथा उनके पैरों पर रख दिया। एक ओर तो उग्रसेन और उसकी पत्नी का अपने पुत्रों की मृत्यु पर विलाप और दूसरी ओर वसुदेव तथा देवकी का अपने बिछुड़े हुए पुत्रों से मिलाप। ये दोनो ऐसे दृश्य थे जो एक ही सभामण्डल में लोगों के हृदय में विपरीत भाव उत्पन्न कर रहे थे। इस सारे दृश्य में लोगों को परमात्मा के अटल न्याय की रेखा दिखाई देती थी। जो दुख और सन्ताप कंस तथा सुमाली के मृत शरीर के देखने से होता था वह तत्काल वसुदेव और देवकी के विह्वल हृदय के नीचे दब जाता था।

कंस की वह कार्यवाही लोगों के सामने फिर घूमने लगी जो उसने वसुदेव और देवकी के बच्चों का वध करने के लिए की थी। कृष्ण के माता और पिता के आनन्द में सारी सभा आ मिली। यादव वंश के सब छोटे-बड़े एक-एक करके कृष्ण के पैरों पर आ पड़े और सबने उनसे राज्य तिलक ग्रहण करने की प्रार्थना की। सारी सभा इन शब्दों से गूँज उठी कि कृष्ण मथुरा की गद्दी पर बैठें और राज्य करें। युवा कृष्ण के लिए यह कड़ी परीक्षा का समय था। एक ओर तो राजपाट और सारे ऐश्वर्य उनके सामने हाथ जोड़े खड़े थे। सारे भाई-बन्धु और प्रजा उनसे आग्रह कर रही थी कि कृष्ण राजपाट अंगीकार करें। दूसरी ओर उनके हृदय में न्याय और धर्म के उच्च भाव एकत्र हो रहे थे। उनके भीतर से यह आवाज आई कि मुझे इस गद्दी का अधिकार नहीं लेना। मैने कंस को इसलिए नहीं मारा कि उसका राजपाट स्वयं भोगूँ। यदि मैंने इस समय गद्दी स्वीकार कर ली तो संसार को यह कहने का अवसर मिलेगा कि राज्य के लालच में आकर मैंने कंस का वध किया, पर मेरे हृदय में इसका कभी विचार भी नही हुआ। इस विचार के आते ही कृष्ण ने ठान लिया कि नहीं, मैं गद्दी नही लूँगा। गद्दी उग्रसेन की है जिसे दुष्ट कंस ने अन्याय और बल से छीना था। उग्रसेन ने भी बहुत अनुरोध किया कि मैं तो इससे प्रसन्न हूँ कि आप गद्दी पर बैठें। पर कृष्ण ने एक न सुनी और सबके सामने

उग्रसेन को फिर से गद्दी पर बिठा दिया । जो लोग कंस के अत्याचारों से डरकर देश छोड़कर चले गये थे उन सबको बुला लिया गया । सारांश यह कि सब प्रबन्ध ठीक कर कृष्ण ने अपने भाई बलराम सहित विद्या के निमित्त काशी[1] जाने का निश्चय किया ।

पाठक ! विद्योपार्जन के समय का बड़ा भाग तो कृष्ण और बलराम का वृन्दावन के वनो मे पशुओं को चराने और वंशी बजाने में व्यतीत हुआ । उस समय उनकी प्राणरक्षा के लिए उनकी वास्तविक अवस्था छिपाना आवश्यक था । पर जब कृष्ण को अपने वंश का पता लगा तो उन्होंने कुछ विद्याध्ययन करना आवश्यक समझा क्योंकि उसके बिना अपने कर्तव्यों का पालन नही कर सकते थे । क्षत्रिय वंशावतंस दोनों राजकुमारो ने इस कमी को पूरा करने का संकल्प कर लिया और वही से उन प्यारे गोपों को विदा कर दिया जिन्होंने बचपन मे उनकी रक्षा की थी । अपने धर्म पिता नन्द और उनके संबंधियों से बड़े हौसले से आज्ञा माँगी और अपनी धर्म माता यशोदा को ममत्व और प्रेम के भरे संदेश भेजे । इसी तरह सब साथियों से गले मिलकर विदा हुए, जिनके साथ उन्होंने कैद के दिन काटे थे और जिनकी संगति में सुख की नीद सोये थे । यह विचार मानो उस समय के राजघरानों में साधारणत: अनुकूल था । अपने धर्म का ज्ञान होते ही उन सब सम्बन्धो पर लात मार बैठे । नन्द और यशोदा का स्नेह, गोपों का प्रेम और खेल-कूद उनके चित्त को चलायमान न कर सका ।

कृष्ण की शिक्षा के विषय में पुराणों से बस इतना पता मिलता है कि कृष्ण के गुरु का नाम सन्दीपन था जो अवन्तीपुर[2] नामक स्थान का रहने वाला था । पुराण कहता है कि कृष्ण ने सन्दीपन से केवल 24 दिन शिक्षा पाई और इसी अल्पकाल में वे सारी शास्त्रविद्या में निपुण हो गए । पर महाभारत में श्रीकृष्ण की शिक्षा का स्थान-स्थान पर वर्णन आया है जिससे विदित होता है कि कृष्ण अपने समय के परम विद्वान् और वेदशास्त्र के ज्ञाता भी थे । महाभारत मे एक स्थान पर वर्णन है कि कृष्ण ने दस वर्ष तक तप किया था, जिससे हम परिणाम निकालते है कि उग्रसेन को मथुरा की गद्दी देकर श्रीकृष्ण ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके दस वर्ष पर्यन्त केवल विद्या का उपार्जन ही करते रहे ।

---

1 हम नहीं कह सकते कि कृष्ण के समय वर्तमान काशी या बनारस को वही गौरव प्राप्त था जो उसे पौराणिक समय मे मिला । प्राचीन ग्रन्थो में काशी का वर्णन आया है पर हमारे पास उसका कोई प्रमाण नही कि उससे तात्पर्य इसी 'शहर बनारस' का है । पुराणो के विरचित होने के समय तो काशी अपनी पूर्ण उन्नति की चोटी पर पहुँचा हुआ था । इसलिए संभव है कि उन पुराणों के रचयिता पण्डितों ने अपने जमे हुए विचार के अनुसार यह लिख दिया हो कि श्रीकृष्ण भी हो न हो विद्योपार्जन के लिए काशी ही गए । पर यथार्थ तो यह जान पड़ता है कि वह विद्या के निमित्त काशी नहीं गए ।

2 वर्तमान उज्जैन

हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ है । यहाँ यादवों ने एक मजबूत दुर्ग बनाया और अपने पहरे चौकी का पूरा प्रबन्ध करके[1] रहने लगे ।

1. जब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से राजसूय यज्ञ करने का विचार प्रकट किया और आज्ञा माँगी, तो कृष्ण ने कहा कि हे राजन् ! जरासंध ने यहाँ के सारे राजा-महाराजाओं को जीतकर अपने अधिकार मे कर लिया है । बहुतेरी जातियाँ उसके भय से देश छोड़कर भाग गई है । उसकी सेना मे अगणित वीर योद्धागण इकट्ठे हो गए है । जब तक तुम उसे नही जीत लेते राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते । इसी प्रसंग मे उन सब युद्धों का वर्णन किया जो उन्होंने और उनके वंश वालो ने जरासंध से किये थे और जिनसे व्याकुल होकर अन्त में उन्हे द्वारिका की ओर भागना पड़ा था । इस बातचीत से विदित होता है कि उस समय अकेले यादव वंश मे 18 हजार भाई-भतीजे मौजूद थे जो सबके सब शस्त्रधारी और लडने-भिड़ने में निपुण थे । इसी बातचीत मे श्रीकृष्ण ने कहा कि द्वारिकापुरी के इर्द-गिर्द पहाड़ों का घेरा है जो तीन योजन है । हर एक योजन में 21 छावनियाँ और 100 द्वार बनाए गए थे, जहाँ पर शस्त्रधारी यादव सेना रक्षा के लिए नियत थी एक योजन चार कोस का होता है

दसवाँ अध्याय

कृष्ण का विवाह

बरार[1] के राजा भीष्मक की रूपवती पुत्री का नाम रुक्मिणी था। कृष्ण इसके सौन्दर्य का हाल सुनकर उस पर आसक्त हो गए। यह प्रेम दोनों ओर से था। वह भी कृष्णचन्द्र के रूप और गुणो पर मोहित थी। उसकी मनोकामना यही थी कि किसी प्रकार कृष्ण महाराज मेरा पाणिग्रहण करे। पर इसमें एक रुकावट यह थी कि उसका पिता भीष्मक राजा जरासंध के दबाव मे था। उसने जरासंध की सम्मति से रुक्मिणी की मँगनी चेदि के राजा शिशुपाल से कर दी, जो जरासंध का सेनापति था। यहाँ तक कि विवाह का दिन नियत कर दिया गया और शिशुपाल अपने स्वामी जरासंध के साथ विवाह करने आ पहुँचा। जब कृष्ण को खबर मिली कि रुक्मिणी का पिता उसका विवाह करने लगा है तो वे (कृष्ण) भी बलभद्र और दूसरे साथियो सहित भीष्मक की राजधानी कुण्डिनपुर जा पहुँचे और जब रुक्मिणी मन्दिर से लौटती हुई अपने घर जा रही थी तो उसे अपने रथ में बिठाकर ले चले।[2] रुक्मिणी के भाई रुक्मी ने जब यह लीला सुनी तो वह बड़ा कुपित हुआ और उनका पीछा किया। जब दोनों की मुठभेड़ हुई, तो रुक्मी परास्त हुआ और निश्चय था कि वह मारा जायेगा तब उसकी बहन ने उसका पक्ष लिया और उसकी जान बचाई। इस तरह रुक्मी को नीचा दिखाकर श्रीकृष्ण रुक्मिणी को लेकर द्वारिका आए, और राक्षस[3] रीति से उससे विवाह कर लिया।

इस विवाह से प्रद्युम्न उत्पन्न हुआ जिसका महाभारत में स्थान-स्थान पर वर्णन आया है।

---

1 यह विदर्भ देश के नाम से जाना जाता है।

2 किसी-किसी पुराण मे वर्णन है, कि रुक्मिणी ने स्वयं कृष्ण को संदेश भेजा और मंदिर जाने के बहाने अपने पिता के महल से निकल पड़ी और अपनी इच्छा से कृष्णचन्द्र के साथ चली गई।

3 स्मृति शास्त्रो में विवाह 8 प्रकार का कहा है जिनमें से एक को राक्षस विवाह कहते हैं। जब कोई क्षत्रिय किसी लड़की को उसकी इच्छा के विरुद्ध लडकर या चोरी से भगा ले जाता था और उससे विवाह कर लेता था, तो उसे राक्षस विवाह कहते थे। महाभारत मे लिखा है कि भीष्म पितामह ने काशी के राजा की दो कन्याओ का इसी तरह हरण करके अपने भाइयो से उनका विवाह किया था। महाराज पृथ्वीराज का संयोगिता को ले जाकर उससे विवाह करना एक ऐतिहासिक घटना है। इसी तरह अर्जुन ने श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा के साथ विवाह किया था। पुराणो में कृष्ण की अनेक रानियों का वर्णन आता है, पर इसका पता लगाना कठिन जान पड़ता है कि वास्तव मे कितनी थी। यह तो निश्चित है कि रुक्मिणी श्रीकृष्ण की पटरानी थी। विष्णुपुराण, भागवत और हरिवंश के भिन्न-भिन्न वृत्तान्तो से जान पड़ता है कि कृष्ण की आठ रानियाँ थीं।

टिप्पणी बंकिमचन्द्र ने एकमात्र रुक्मिणी को ही कृष्ण की पत्नी माना है (सम्पादक)

ग्यारहवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण के अन्य युद्ध

द्वारिकापुरी में जा बसने के पश्चात् कृष्ण का जीवन दो भागों में विभाजित होता है। एक वह जो महाभारत के युद्ध में दीख पड़ता है और दूसरा वह जो दूसरी लड़ाइयों के वृत्तान्तों से विदित होता है। द्वारिका में वास करने के बाद श्रीकृष्ण की राजनीति का बडा अंश महाभारत में व्यतीत हुआ है। महाभारत में कृष्ण की जो बातें लिखी हैं उनसे उनके जीवन का कुछ-न-कुछ पता तो अवश्य चलता है इसलिए हम पहले उन लड़ाइयों का वृत्तान्त वर्णन करेंगे जो पौराणिक साहित्य मे उनके नाम से वर्णन की जाती है। ये वृत्तान्त इतनी अत्युक्तियों से ऐसे भरे हुए है कि उनमें से यथार्थ बातों का सार निकालना संभव नहीं।

(1) विष्णुपुराण में (29वॉं अध्याय) उस आक्रमण का वर्णन है जो कृष्ण ने कामरूप (आसाम) की राजधानी प्राग्ज्योतिष पर किया था। यहाँ के राजा का नाम 'नरक' लिखा है। इस युद्ध का कारण यह बताया जाता है कि प्रग्ज्योतिष का राजा बड़ा अन्यायी था। डराकर लोगों की स्त्रियों और कन्याओं को अपने घर मे डाल लेता था और जब उस प्रान्त के लोगो ने इस बात की कृष्ण से आकर शिकायत की तो उन्होंने 'नरक' पर चढ़ाई की और उसको मारकर उन सब स्त्रियों को छुटकारा दिया जो उसके महल में कैद थीं और जिनकी गिनती 16 हजार कही गई है।

(2) दूसरी लड़ाई जिसका वर्णन विष्णुपुराण में है कर्नाटक के राजा 'बाण' से हुई। इसका कारण यह जान पड़ता है कि कृष्ण के पोते अनिरुद्ध और बाण की पुत्री उषा मे परस्पर प्रेम हो गया था। यह प्रेम यहाँ तक बढ़ा कि अनिरुद्ध उषा के चाञ्चल्य से बाण के महलों मे जा पहुँचा। वहाँ अपनी प्रिया के संग पकड़ा गया और बन्दी बना लिया गया। जब यह समाचार द्वारिका पहुँचा, तो श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न उसे छुड़ाने गए। एक भयंकर लड़ाई के बाद बाण पराजित हुआ और कृष्ण अनिरुद्ध को लेकर लौट आये।

(3) तीसरी लड़ाई जिसका वर्णन विष्णुपुराण में आया है, बनारस के राजा पौण्ड्रक से हुई थी। इस राजा ने वासुदेव की उपाधि ग्रहण कर ली थी, पर कृष्ण की उपाधि भी यही थी। ऐसा कहते है कि इस (पौण्ड्रक) ने ईर्ष्यावश श्रीकृष्ण को एक उदण्ड संदेश कहला भेजा और इसी से दोनों में युद्ध हुआ जिसमें पौण्ड्रक मारा गया। इस लड़ाई में पहले चढ़ाई किस ओर से हुई इस विषय में मतभेद है। विष्णुपुराण के अनुसार जब कृष्ण को झूठा और छली कहा गया तो पहले उन्होंने ही चढ़ाई की, पर दूसरे लोग यह कहते हैं कि जब कृष्णचन्द्र कैलाश-यात्रा को गए हुए थे तो पौण्ड्रक पहले द्वारिका पर चढ़ आया और इसी से युद्ध आरम्भ हुआ

बारहवाँ अध्याय

द्रौपदी का स्वयंवर और श्रीकृष्ण की पांडुपुत्रों से भेंट

आर्यावर्त में कौरवों और पांचालों की लड़ाई इतनी प्रसिद्ध है कि एक छोटा बच्चा भी उसे भली भाँति जानता है । वस्तुतः कौरव और पांचाल दो जातियों के नाम थे, जो भारतवर्ष के उत्तर प्रान्त में शासन करती थीं । कुरु जाति की भोग्य भूमि का नाम कुरुवन था और पांचालो के देश का नाम पांचाल ही था । यद्यपि दोनो जातियाँ एक ही वंश से थी, पर दोनों में ऐसा विरोध था कि सदा आपस में लड़ती रहती थीं । पाण्डुपुत्र (युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव) और दुर्योधन इत्यादि ये सब कुरुवंश के राजकुमार थे और आपस में चचेरे भाई थे । पांचाल के राजा का नाम द्रुपद था जो राजकुमारी द्रौपदी का पिता था । दुर्योधन का पिता धृतराष्ट्र अन्धा होने से गद्दी पर नहीं बैठा । पाण्डु राज्य करता था । पाण्डु के मरने पर धृतराष्ट्र का बड़ा पुत्र दुर्योधन गद्दी का दावेदार हुआ और इसकी सिद्धि के लिए वह पाण्डुपुत्रों की जान के पीछे पडा । यह विग्रह इतना बढ़ा कि धृतराष्ट्र ने पाण्डवों से कहा, वे कुछ काल के लिए विराट नगर में जाकर रहें । पाण्डवों ने जब इस बात को स्वीकार कर लिया तो दुर्योधन ने अपने एक मित्र विरोचन को इसलिए आगे भेज दिया, ताकि वह युधिष्ठिर तथा अन्य पाण्डवों के रहने के लिए लाख का एक घर निर्माण करा दे जिसमें जब पाण्डव जाकर रहें तो किसी भी दिन या रात को उसमें आग लगा दी जाय और इस प्रकार सबके सब अंदर जल मरें । पर दुर्योधन की इस करतूत की खबर विदुर को मिल गई । उन्होंने अपने भतीजे युधिष्ठिर इत्यादि को इससे सूचित कर दिया और इसलिए सावधान होकर पांचों पाण्डव आग लगने के पहले ही वहाँ से भाग निकले और ब्राह्मण का रूप धर छिपे-छिपे वन में विचरण करने लगे । इन्हीं दिनो मे पाचाल की राजपुत्री द्रौपदी का स्वयंवर रचा गया था । इस उत्सव में आर्यावर्त के सब क्षत्रिय राजा-महाराजा उपस्थित थे । श्रीकृष्ण भी अपने भाई बलराम के साथ आए हुए थे । एक ओर ब्राह्मण के वेष मे पाण्डवगण भी बैठे हुए थे ।

इस स्वयंवर में विजय का नियम यह रखा गया था कि तेल की एक कढ़ाई में एक चक्र पर मछली का चित्र बना था । वह मछली घूमती थी । इसकी परछाईं तेल से देखकर जो अपने बाण से मछली के नेत्र में निशाना लगाएगा वही द्रौपदी का पति होगा । ऐसा जान पड़ता है कि उस समय धनुष विद्या में कर्ण और अर्जुन बड़े निपुण थे । इनकी समता कोई नही कर सकता था । अब उपस्थित राजाओं में से कोई भी इस नियम का पालन नहीं कर सका, तो कर्ण उठा, जिस पर द्रौपदी ने कहा कि यह सारथी का पुत्र है, इससे मैं विवाह नही कर सक्ती यह सुनकर कर्ण मुंह लेकर बैठ गया अत में ब्राह्मणों की पक्ति में से

अर्जुन उठा और उठते ही इस फुरती से बाण मारा कि वह सीधा निशाने पर जा लगा । बस फिर क्या था, द्रौपदी ने आगे बढ़कर फूलों का हार उसके गले में पहना दिया । यह देखकर सारी सभा में कोलाहल मच गया । सारे राजा-महाराजा कहने लगे कि स्वयंवर में ब्राह्मण राजकन्या को नहीं वर सकता । इस संघर्ष में अर्जुन और भीम ने जो हाथ दिखाया, जिससे श्रीकृष्ण ने उन्हे पहचान लिया और बीच मे पड़कर यह निर्णय करा दिया कि इस ब्राह्मण ने नियमानुसार स्वयंवर जीता है, इसलिए न्याय और नियम के अनुसार द्रौपदी इसकी हो चुकी । श्रीकृष्ण का प्रभाव इतना प्रबल था कि इस फैसले पर सबके सब चुप रहे, और वहाँ से चल दिये । अर्जुन अपने भाइयों सहित द्रौपदी को लेकर अपनी माता के पास गए । फिर कृष्ण भी वहाँ पहुँचे । युधिष्ठिर की माता कुन्ती, कृष्ण की बुआ थी । एक-दूसरे को पहचानकर तथा कुशल-क्षेम पूछने पर पाण्डुपुत्र कृष्ण से पूछने लगे, "आपने हमको किस तरह पहचाना ?" इसके उत्तर में कृष्ण ने कहा कि अग्नि छिपाये नही छिप सकती । आपने जो विचित्र कार्य आज द्रुपद की सभा में किया है, उसी ने आप सबका परिचय दे दिया । पाण्डवों को छोड़कर और किसमें सामर्थ्य है जो ऐसा खेल खेलता ।

तेरहवाँ अध्याय

कृष्ण की बहन सुभद्रा के साथ अर्जुन का विवाह

द्रौपदी के स्वयंवर का समाचार जब धृतराष्ट्र के कानों तक पहुँचा तो उसने भीष्म की सलाह से विदुर को द्रुपद के दरबार में भेजा यह कहकर कि वह वहाँ से पाण्डवों को उनकी विवाहिता पत्नी सहित ले आवे । अब विदुर राजा द्रुपद के दरबार मे पहुँचे और उन्होंने अपना सदेश कहा । वहाँ कृष्णचन्द्र भी मौजूद थे । द्रुपद ने विदुर से कहा कि इसकी व्यवस्था श्रीकृष्ण से लेनी चाहिए । यदि उनकी सम्मति हो कि युधिष्ठिर तथा अन्य पाण्डवों को अपने घर हस्तिनापुर जाना चाहिए तो मैं भेजने में कुछ हस्तक्षेप नहीं करूँगा । कृष्ण ने यही सम्मति दी कि अब पाण्डुपुत्रों को स्वदेश ही जाना चाहिए । यह सुनकर द्रुपद ने उन्हें जाने की आज्ञा दी । ऐसा जान पड़ता है कि कृष्णचन्द्र भी इस यात्रा में उनके साथ थे । वे सब हस्तिनापुर पहुँच गये । राजा धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों को शान्त करने के लिए पाण्डवों को राज्य बाँट दिया और उनसे कह दिया कि वे खांडवप्रस्थ के वन में जा बसें ।

यह सुनकर पाण्डव उस वन मे चले गये और वहाँ उन्होंने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया ।

पाठक ! यह इन्द्रप्रस्थ वही शहर है जो आजकल दिल्ली के नाम से प्रसिद्ध है । पर जहाँ आज दिल्ली बसी है वहाँ से इन्द्रप्रस्थ की बस्ती कुछ दूरी पर थी ।

जब पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में जा बसे और आनन्द से रहने लगे तो कृष्णचन्द्र इस धर्म के काम को सम्पूर्ण कर द्वारिकापुरी को लौट आये ।

कुछ काल बीतने पर अर्जुन जब द्वारिका गये तो वहाँ कृष्ण ने उनका बड़ा सत्कार किया । राज्य के कर्मचारी और नगर के धनिक लोगों ने भी आदरपूर्वक स्वागत किया ।

अर्जुन[1] अभी द्वारिका में ही थे कि वहाँ की एक पहाड़ी 'गिरनार' पर एक मेला लगा । इस मेले में भ्रमण करते अर्जुन ने सुभद्रा को देखा । सुभद्रा कृष्ण की सहोदरा बहन और परम सुन्दर थी । अर्जुन उसे देखकर प्रेमासक्त हो गया और टकटकी बाँधकर देखने लगा । कृष्ण भी इस भेद को समझ गये । उन्होंने हँसी-हँसी में सुना भी दिया कि ''जो रात-दिन जंगल-जंगल विचरता फिरता है उसे प्रेम-प्रहसनों से क्या कामं !''

---

1 अर्जुन इन दिनों 12 वर्ष के लिए घर छोड़कर बनवास में था क्योंकि पाँचों भाइयों में प्रतिज्ञा हुई थी कि यदि कोई भाई किसी दूसरे की उपस्थिति मे द्रौपदी के कमरे में आवे तो उसको 12 वर्ष घर त्यागना पड़ेगा । एक दिन किसी कार्यवश अर्जुन को अपने शस्त्र लेने के लिए द्रौपदी के कमरे मे जाना पड़ा जबकि वहाँ युधिष्ठिर मौजूद थे । इसलिए उन्हें 12 वर्ष घर-निकाला मिला । कुछ काल तक इधर-उधर घूमकर अर्जुन द्वारिका जा पहुँचा । कृष्ण की वार्ता मे इसी का संदर्भ है

पर जब कृष्ण ने उसे बतलाया कि सुभद्रा उसकी बहन है तो अर्जुन उनसे इस बात का अनुरोध करने लगा कि उसका विवाह सुभद्रा के साथ होना चाहिए । कृष्ण भी चाहते थे कि यह संबंध हो जाये, क्योंकि वह जानते थे कि अर्जुन अपने समय का प्रसिद्ध वीर है, इससे सबध जोड़ना अपने को गौरवान्वित करना है । पर उन्हें इस बात का भय था कि कदाचित् उनके भाई-बंधु इसे स्वीकार न करें क्योंकि अर्जुन तथा अन्य पाण्डवों के जन्म के विषय में उस समय लोगा में बहुत चर्चा थी । इसलिए कृष्ण ने इन बातों की चिन्ता कर अर्जुन से कहा कि मै निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि स्वयंवर मे सुभद्रा तुम्हीं को वरेगी । क्षत्रियों में गन्धर्व विवाह की रीति है और योद्धाओं के लिए यह बात प्रतिष्ठा की समझी जाती है कि वह विवाह करने की इच्छा से अपनी प्रिया को अपहृत कर लें । अतएव यदि तुम सुभद्रा पर ऐसे मोहित हो तो तुम्हारे लिए इससे उत्तम कोई और उपाय नहीं कि तुम उसको बलात् ले जाओ । फिर निश्चय ही तुम्हारा विवाह[1] उससे होगा । तत्पश्चात् निश्चय हुआ कि इस बारे में पहले युधिष्ठिर की आज्ञा ले ली जाय । इसलिए एक दूत उनके पास भेजा गया । जब वहाँ से आज्ञा मिल गई तो एक दिन अर्जुन रथ लेकर सुभद्रा के रास्ते में जा बैठा । वह उसके पास से निकली तो उसको बलात् उठाकर रथ में बैठा लिया और वहाँ से चले गये । जब सुभद्रा की सहेलियों ने इसकी खबर दरबार मे पहुँचाई तो सब लोग आग-बबूला हो गए । फिर शिशुपाल ने शख बजाया जिससे सारे यादव और भोज शस्त्र धारण करके इकट्ठे हुए । जब उन सबने सुना कि अर्जुन उनकी राजकुमारी को बलपूर्वक हर ले गया तो उनकी आँखों से लहू टपकने लगा और सब बदला लेने के लिए तत्पर दीख पड़ने लगे । इतने में बलराम आ पहुँचे और पूछा कि आप सब लोग ऐसे उत्तेजित क्यों दीख पड़ते हैं, किन्तु कृष्णचन्द्र चुपचाप बैठे हैं । फिर उनसे इसका कारण पूछा, "हे कृष्ण, तुम चुप क्यों हो ? तुम्हारे ही कारण तो हम सबने अर्जुन का इतना सम्मान किया और आगत का स्वागत किया । अब प्रकट हुआ कि वह इस सम्मान और स्वागत के योग्य न था । उसने हमारा बड़ा अपमान किया । हमारी बहन के साथ उसने जो बलात्कार किया है वह सह्य नहीं । यह कैसे हो सकता है कि हम इस अपमान को चुपचाप सहन कर लें ! हम इसका बदला लेंगे और जब तक पृथिवी को कौरवों से शून्य नहीं कर लेंगे, दम नहीं लेंगे ।"

जब चारों ओर से यही आवाज गूँज उठी और यादव मरने-मारने पर बद्धपरिकर हो गए तो कृष्ण ने अपना मौन तोड़ा और बोले, "हे भाइयो, आपका यह विचार ठीक नहीं कि अर्जुन ने हमारा अपमान किया । मेरी समझ में तो उसने हमारी प्रतिष्ठा ही बढ़ाई है । वह जानता था कि हमारे वंश में बदला लेकर लड़की देना निषिद्ध है । स्वयवर में सफलता की उसे पूरी आशा नहीं थी । उसके पद और वीरता से यह संभव नहीं था कि वह आपसे कन्यादान माँगता । अतएव उसने क्षत्रियों की चाल चली । जैसे सुभद्रा परम रूपवती और गुण-सम्पन्ना

---

1 याद रहे कि कृष्ण का विवाह रुक्मिणी के साथ इसी तरह हुआ था । इससे जान पड़ता है कि उस समय यह चलन क्षत्रियों मे निन्दनीय नही गिना जाता था, क्योंकि जो कोई किसी कन्या को भगा ले जाता था वह विवाह की इच्छा से ही ले जाता था । विवाह का संस्कार किए बिना उसके पास नहीं जाता था

ै, वैसे ही अर्जुन भी प्रत्येक प्रकार से उसके योग्य है । भरत का वंशज, शान्तनु का पोता, और कुन्तिभोज का नाती वह किसी प्रकार उसके अयोग्य नहीं कहा जा सकता । मुझको आज सारी पृथिवी पर उसके समान कोई वीर दिखाई नहीं देता । किसका हौसला है जो लड़ाई में अर्जुन का मुकाबला कर सके । उससे बाजी मारके जाना कठिन है, उसकी वीरता अपने आपमें आदर्श है । इसलिए मेरी सम्मति है कि इसमें उत्तेजना से काम नहीं लिया जाय वरन् उसे बुलाकर उसका विवाह सुभद्रा से कर दिया जाय । यदि हम उससे लडे और पराजित हुए तो इसमें हमारी हँसी होगी । मेल कर लेने में कोई हँसी नहीं'' ।

सारांश यह कि इस प्रकार कृष्ण ने अपने भाइयों का क्रोध ठंडा किया । उनकी बात से सब सहमत हुए और अर्जुन को बुलाकर उनके संग सुभद्रा का विवाह कर दिया ।

अर्जुन सुभद्रा के साथ विवाह कर कुछ दिन तक वहाँ रहा और बारह वर्ष पूरे होने पर अपनी धर्मपत्नी को लेकर इन्द्रप्रस्थ चला गया ।

जब अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ पहुँचने की खबर आई तो कृष्ण अपने भाई-बंधुओं सहित बड़ी धूम-धाम से सुभद्रा का दहेज लेकर चले । इस दहेज में युधिष्ठिर आदि के लिए पृथक्-पृथक् उत्तम-उत्तम भेंट थी । इन्द्रप्रस्थ वालों ने जिस तरह कृष्ण और उसके साथियों का स्वागत किया, वह निम्न वर्णन से भली प्रकार प्रकट होता है ।

राजकुमार नकुल और सहदेव ने नगर से बाहर जाकर मेहमानों का स्वागत किया और फिर उन्हें बड़ी धूम-धाम से गाजे-बाजों और पताकाओ के साथ शहर में ले आये । शहर की गलियाँ इस उत्सव के लिए साफ की गईं और उन पर छिड़काव किया गया । सब बाजार, गली और कूचे रंग-बिरंगे फूलों और हरियाली से सजे हुए थे । इन फूलो पर चन्दन का छिड़काव हो रहा था जिससे चारों ओर सुगन्धि फैल रही थी । नगर के हर कोने मे सुगन्धि जलाई गई थी जिससे कहीं दुर्गन्ध न रहे । नगर के बाहर विद्वान् ब्राह्मण स्वागत के लिए गए । सबने रीति के अनुसार कृष्ण की पूजा की । स्वयं महाराज युधिष्ठिर आदरपूर्वक आगे बढ़े और उन्हें गले लगाकर अन्तःपुर में गए ।

चौदहवाँ अध्याय

खांडवप्रस्थ के वन में अर्जुन और श्रीकृष्ण

महाभारत से मालूम होता है कि पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ से कुछ दूरी पर एक सुन्दर वन था जिसको खांडवप्रस्थ कहते थे। इसमें बनैले पशुओं के अतिरिक्त अनेक असभ्य जातियाँ निवास करती थीं जिनको उस समय तक किसी ने नही जीता था। यह वन बहुत बड़ा था। इस वन में रहने वाली जातियाँ बड़ी वीर और लड़ाकू थी। पाण्डवों को उस वन का अधिकार देने में धृतराष्ट्र की यही नीति थी कि इस पर स्वत्व जमाने में या तो स्वयं पाण्डवगण अपने प्राण नष्ट कर देंगे या उनको मारकर एक ऐसे प्रदेश को राज्य में मिला देंगे, जिसे उनके पहले कोई भी अपने अधीन नहीं कर सका था। वास्तव में धृतराष्ट्र की यह अनीति और अन्याय था कि अपने पुत्रों को तो अच्छी बस्ती और उपजाऊ भूमि दे और पाण्डवों को पथरीला और उजाड वन मिले। धर्मवीर युधिष्ठिर स्वयं पर धृतराष्ट्र का इतना प्रभाव मानते थे कि उसने इस बात पर तनिक भी आशंका नहीं की और प्रसन्न चित्त होकर इस प्रान्त को अंगीकार कर लिया। पॉचो भाइयों में इतना प्रेम था, कि किसी ने भी युधिष्ठिर के स्वीकार करने पर नाक भौं नही चढायी। बात भी सत्य है, जब युधिष्ठिर स्वीकार कर चुका तो उसके छोटे भाई जो उसके आज्ञाकारा थे, कैसे शंका करते ? जब वह भाग विभाजित हुआ तो कृष्ण (जो द्रुपद के यहाँ से पाण्डवो के साथ आये थे) यहाँ उपस्थित थे। उन्होने पाण्डवों को यह कहकर शान्त कर दिया कि भाइयों में परस्पर विग्रह न भड़कने पावे।

स्मरण रखना चाहिए कि पाण्डव उनके फुफेरे भाई थे। पिता की गद्दी पर उनका पूरा स्वत्व था, पर धृतराष्ट्र के अन्याय के कारण वे मारे-मारे फिरते थे। अन्त में जब उन्हें पृथक् राज्य दिया भी गया, तो ऐसा जिसे स्वत्व में लाने मे उन्हें अपनी ही जान बचाना मुश्किल था। द्रौपदी के स्वयंवर में उनकी अवस्था देखकर कृष्ण ने ठान लिया था कि उनको उनका अधिकार दिलवा दिया जाये। हस्तिनापुर आकर उनकी भलाई के लिए उन्हें यही हितकर दीख पडा कि इसके लिए वे बहुत जोर न दें और जो कुछ धृतराष्ट्र ने दिया है, उसे स्वीकार कर ले। इन्हीं कारणों से जब पाण्डवों ने खांडवप्रस्थ का लेना स्वीकार कर लिया तो कृष्ण ने उनका साथ दिया। उस वन को काटने तथा बसाने में उनकी सहायता की। यहाँ तक कि वे तब तक द्वारिका नहीं गए जब तक इन्द्रप्रस्थ अच्छी तरह बस नहीं गया और पाण्डवों का वहाँ पूरा अधिकार नहीं जम गया।

पाठक गण ! आप समझ गये होंगे, कि सुभद्रा के विवाह के विषय में कृष्ण ने क्यों अर्जुन का पक्ष लिया था ? उनकी हार्दिक इच्छा थी कि अर्जुन के साथ ऐसा संबंध बनाया जाय जिसमें

बँधकर सारे यादववंशी पाण्डवों की सहायता करने पर विवश हो जाये । इसलिए उन्होने ऐसी युक्ति लगाई जिससे अर्जुन और सुभद्रा का विवाह हो ही गया ।

कृष्ण के वंश से यों संबंध हो जाने से पाण्डवों को बड़ा सहारा मिला और सारे आर्यावर्त मे उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई । शत्रु भी उनके भय खाने लगे । दुर्योधन को भी लगा कि कृष्ण और उनके यादव वीर पाण्डवों की पीठ पर हैं । इसके अतिरिक्त इस संबंध से उनका एक अभिप्राय यह भी था कि वे अपने शत्रु जरासंध से बदला लेने में अर्जुन आदि से सहायता लेना चाहते थे । उनकी इच्छा थी कि पाण्डव उनका उपकार मानकर जरासंध के नाश मे स्वयमेव उनकी सहायता करें । कृष्ण की युक्ति फलदायक हुई और ऐसा ही हुआ । इनमें परस्पर ऐसा प्रेम बढ़ा कि कृष्ण प्राय: सब लड़ाइयों में पाण्डवों का साथ देने लगे । ऐसा जान पड़ता है कि जब सुभद्रा का दहेज लेकर कृष्ण इन्द्रप्रस्थ गये तो अर्जुन ने उन्हें वहाँ रोक लिया । फिर दोनो ने यह पक्का किया कि वे खाडवप्रस्थ की जंगली जातियों को जीतकर युधिष्ठिर का राज्य बढा दें और जंगल को काटकर अथवा जलाकर सारे स्थान को उपजाऊ बना दे । आदि पर्व के 224वें अध्याय से लेकर पर्व की समाप्ति तक आलंकारिक शैली में इन्ही युद्धों का दर्शन है । इन अध्यायों के पढ़ने से मालूम होता है कि इस वन मे पिशाच, राक्षस, दैत्य, नाग, असुर, गन्धर्व, यक्ष और दानव आदि अनेक असभ्य जातियाँ बसी हुई थीं जिनके साथ अर्जुन और कृष्ण को बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं । इनमें विजयी होने से सारे आर्यावर्त में पाण्डवों का सिक्का बैठ गया, क्योंकि उस समय तक किसी राजा-महाराजा को यह हौसला नहीं हुआ था कि इनसे लडाई लड़कर इनको वशीभूत करें । एक ओर तो इन जातियो ने पाण्डवों के सैनिक बल का डका बजा दिया, दूसरी ओर महाराज युधिष्ठिर के न्याय और नीति की धूम मच गई । वेदविद्या के ज्ञाता युधिष्ठिर ने इस योग्यता से प्रबन्ध मर्यादा को स्थापित कर दिया जिससे सारे देश मे उनका यश फैल गया । सारे देश की प्रजा यही चाहने लगी कि वह भी युधिष्ठिर की प्रजा बनकर उसके धार्मिक व्यवहार से लाभ उठावें ।

इसका परिणाम यह हुआ कि एक-एक करके अनेक प्रान्त उसके राज्य में मिलते चले गये । बहुतों को उसके भाइयों ने जीतकर मिला लिया और बहुत-से सन्धि और मेल से वश मे आ गए । सारांश यह कि थोड़े ही काल में महाराज युधिष्ठिर का राज्य दूर-दूर तक फैल गया और सारे देश में कोई ऐसा राजा-महाराजा न रहा, जो सैनिकबल, सर्वप्रियता और सुप्रबन्ध मे युधिष्ठिर की बराबरी कर सके अथवा जिस देश और जिसकी प्रजा ऐसे सुख में हो, जैसी कि युधिष्ठिर के राज्य में थी । खांडवप्रस्थ के किसी युद्ध में अर्जुन ने मय नामक एक पुरुष को जीवनदान दिया था । इस युद्ध की समाप्ति पर जब अर्जुन और कृष्ण इन्द्रप्रस्थ लौट आए तो मय उनके पास आकर बोला कि इस जीवनदान के प्रतिकार में मुझे आपकी कुछ सेवा करनी चाहिए । अर्जुन बोला, ''मैंने तुम्हारी जान बचाई है इसलिए मैं तुमसे उसके बदले में कुछ नही ले सकता । तुम स्वतंत्र हो, जहाँ चाहो जाओ और प्रसन्न रहो ।'' मय इसके उत्तर में बहुत आग्रह करने लगा और बोला, 'हे पाण्डुपुत्र, यद्यपि आपको यही उचित था जो आपने कहा, पर आपकी कुछ सेवा करने की मुझे उत्कृष्ट कामना है । मैं चाहता हूँ कि आपकी कोई सेवा

करके अपनी प्रवीणता दिखाऊँ, क्योंकि मैं अपने को इस समय का 'विश्वकर्मा'[1] मानता हूँ।''

अर्जुन ने उत्तर दिया, 'हे मय! मेरा सिद्धान्त है कि मैंने तेरी जान बचाई इसलिए तुझसे बदले में कुछ न लूँ, पर यदि तेरी इच्छा कुछ दूसरी है तो तू कृष्ण की कुछ सेवा कर दे। इसी से मैं संतुष्ट हो जाऊँगा।''

यह सुनकर मय कृष्ण से आग्रह करने लगा। अन्त में कृष्ण ने कहा, 'हे मय! यदि तू मेरे लिए कुछ करना चाहता है तो राजा युधिष्ठिर के लिए एक ऐसी राजसभा (महल) बना, जो संसार में अपने आपमें आदर्श हो और जैसी दूसरी कोई और न बना सके।''[2]

मय ने विनयपूर्वक इस आज्ञा को पूरी करने का निश्चय किया और कुछ काल में एक ऐसे विशाल और सुन्दर राजभवन का निर्माण किया जिसे देखकर सारे राजा-महाराजा आश्चर्य में पड गए और मय के बुद्धिकौशल पर वाह-वाह करने लगे।

1. सृष्टि के रचने के कारण परमेश्वर विश्वकर्मा कहा जाता है, पर इस शब्द का अर्थ आजकल इंजीनियर से है।
2. इस प्रासाद का वर्णन करते हुए महाभारत में लिखा है कि इसका क्षेत्रफल 5 हजार हाथ का था। इसमें सुनहरी झरने थे और सारा महल मोतियों की चमक से ऐसा जगमगाया करता था जिसके सामने सूर्य का तेज मन्द दीख पड़ता था। इसके पश्चात् एक जलाशय का वर्णन करते हैं जिसका जल ऐसा स्वच्छ था कि नीचे की भूमि दिखाई देती थी। इधर-उधर संगमरमर की सीढ़ियाँ थीं जिनमें हीरे और दूसरे बहुमूल्य पत्थर जड़े हुए थे। चारों ओर बड़े-बड़े वृक्ष थे। इनसे सटा हुआ एक बनावटी जंगल बनाया गया था। इस महल की प्रतिष्ठा के यज्ञ के दिन 500 ऋषि और मुनि उपस्थित थे और देश-देश के [illegible] आये थे। राजाओं की इस नामावली में हम मद्रास (आज का [illegible]) कलिंग बंगाल कन्नौज [illegible] और मगध आदि देशों के राजाओं के नाम पाते हैं।

पंद्रहवाँ अध्याय

राजसूय यज्ञ

जब युधिष्ठिर का शासन और पाण्डवों का राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा और पाँचों भाइयों ने अपने बाहुबल से सारे राजा-महाराजाओं को अपने अधीन कर लिया तो चारों दिशाओं में पाण्डवों की तूती बोलने लगी। कोई भी उनकी बराबरी का दावा नहीं कर सका। उनका राजकोष धन-सम्पदा से परिपूर्ण हो गया। सेना की भी यही दशा थी कि देश के शूरवीर सब आ-आकर इनकी सेना में भरती हो गये। इनकी राजसभा और राजप्रासाद ऐसे थे जैसे अन्यत्र कहीं नहीं थे। ऐसी दशा में युधिष्ठिर और उसके भाइयों की यह इच्छा[1] हुई कि राजसूय यज्ञ करके महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण की जाये। जब महाराज ने यह इच्छा प्रकट की तो सारे धनिक वर्ग, मंत्रिपरिषद, पंडितो एवं विद्वानों ने इसका अनुमोदन किया और कहा कि आप प्रत्येक प्रकार से इस यज्ञ के करने की सामर्थ्य रखते हैं। पर फिर भी युधिष्ठिर को संतोष नहीं हुआ और उसने इसका अन्तिम निर्णय कृष्ण की सम्मति पर रखा तथा कृष्ण को बुलाने के लिए दूत भेजा। जब वे आये तो युधिष्ठिर उनकी ओर देखकर कहने लगा, "हे कृष्ण ! मेरे चित्त में राजसूय यज्ञ करने की इच्छा उत्पन्न हुई है, पर मेरी इच्छा मात्र से तो यह यज्ञ पूरा नहीं हो सकता। आप जानते हैं कि यह यज्ञ कैसे किया जाता है। केवल वही पुरुष इसे कर सकता है जिसकी शक्ति और बल असीम हो, जिसका राज्य सारी पृथ्वी पर हो और जो समस्त राजाओं का राजा हो। मुझे सब लोग इस यज्ञ के करने की सम्मति तो देते है, पर मैंने सारी बातों का निर्णय आप पर रखा है। कोई तो केवल संकोच से मुझे इस बात की सम्मति देते है और उसकी कठिनाइयों का विचार नहीं करते। कोई अपने लाभ के विचार से ऐसी सम्मति देते हैं और कोई अन्य मुझे प्रसन्न करने के लिए कहते हैं। पर आप इन बातो से ऊपर हैं। आपने काम और क्रोध को जीत लिया है अतः आपकी राय ही सर्वोपरि होगी। अब आप मुझे ऐसी सम्मति दें जिससे संसार का और मेरा भला हो।"

श्रीकृष्ण ने इस पर उत्तर में कहा, "हे राजन् ! आप सब कुछ जानते हैं और प्रत्येक प्रकार से इस यज्ञ के करने के योग्य है, परन्तु तो भी जो कुछ मेरी समझ में आता है वह निवेदन करता हूँ।

---

1 महाभारत में इसकी कथा इस प्रकार है कि एक दिन नारद मुनि युधिष्ठिर के दरबार में आये और उन्हें महाराज हरिश्चन्द्र की कथा सुनाकर कहा कि किस प्रकार हरिश्चन्द्र ने राजसूय यज्ञ किया और उन्हें महाराज इन्द्र के दरबार में [illegible] यहाँ [illegible] की इच्छा हुई।

इसके पश्चात् अपने समय के क्षत्रियों की दुर्गति का वर्णन करते हुए कहा कि क्षत्रियों में राजसूय यज्ञ करने की परिपाटी प्राचीन काल से चली आई है । केवल वही पुरुष राजसूय यज्ञ कर सकता है जो सारे राजाओं का महाराजा हो और चक्रवर्ती राज्य का स्वामी हो । मगध देश का राजा जरासंध स्वेच्छाचारी और स्वतंत्र है । अनेक राजा-महाराजा उसके अधीन है तथा उसके कारागार में बन्द पड़े है । जब तक जरासंध का विनाश नहीं हो जाता तब तक आप राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते । जरासंध ऐसा प्रबल और प्रतापी है कि सभी देशों के राजा उसके सामने सिर झुकाते है । यहाँ तक कि हमें भी उसी के भय से अपना देश त्यागना पड़ा । सारे देशो के वीर योद्धा उसकी सेना में एकत्र हैं फिर यह कैसे संभव है कि उसके जीते जी आप इस यज्ञ को कर सकें । यह किसी प्रकार भी संभव नहीं कि वह अपने होते हुए आपको राजसूय यज्ञ करने दे । अतएव यदि आपकी इच्छा यज्ञ करने की ही है तो पहले उसको पराजित कर उन राजाओं को छुटकारा दिलाइये जो उसके बन्दीगृह में हैं । इससे आपको कई पुण्य होंगे । प्रथम तो उस पापी का विनाश कर अनेक असहाय बन्दियों को जीवनदान देने का पुण्य होगा, दूसरे आपको महान् यश प्राप्त होगा और आप निर्भय होकर यज्ञ कर सकेंगे ।

इस कथन को सुनते ही युधिष्ठिर की सारी इच्छाओं पर पानी पड़ गया । वे फिर कहने लगा, "हे कृष्ण ! यदि आप जैसे समर्थ पुरुष भी जरासंध से डरकर भाग गये तो मेरी क्या सामर्थ्य है जो मै उसका सामना कर सकूँ ? वह केवल बलवान ही नहीं है, वरन् अन्यायी और अत्याचारी भी है । इसके अतिरिक्त इससे अशान्ति फैलने की भी संभावना है जिसे मै पसन्द नही करता ।" राजा के इन कायरतापूर्ण वचनों को सुनकर भीम को जोश आ गया और वह कहने लगा, "महाराज ! इसमें सन्देह नहीं कि जो पुरुषार्थहीन और निर्बल है तथा जिसके पास युद्धसामग्री नहीं, यदि वह अपने से सबल शत्रु से लड़ाई ठानेगा तो मुँह की खाएगा ही । पर जो राजा सावधान और नीति से युक्त है, चाहे वह निर्बल भी है, तथापि अपने शत्रु पर विजयी हो जाता है । आपके राज्य में कृष्ण के समान दूसरा नीति को जानने वाला नहीं है । बल में कोई मेरी बराबरी नहीं कर सकता और अर्जुन तो दुर्जय है ही । जैसे तीन प्रकार की अग्नि के मिलने से यज्ञ होता है वैसे ही इन तीनो के मिल जाने से निश्चय ही जरासंध का नाश होगा ।"

भीम के इस कथन को सुनकर कृष्ण बोले, "अल्पबुद्धि या विचारहीन मनुष्य बिना परिणाम के विचारे अपनी आकाक्षाओं को पूरा करने में लग जाते हैं, पर फिर भी कोई शत्रु इस स्वेच्छाचार या अल्पबुद्धि के कारण उस पर दया नहीं करता । इसलिए कोई काम बिना विचारे नही करना चाहिए । इससे पहले कृतयुग में पाँच महाराजाओं ने अपने-अपने गुणों से चक्रवर्ती राजा की उपाधि पाई । किसी ने कर छोड़ देने से, किसी ने दया और न्याय से प्रजा को वश मे करने से, किसी ने अपने तपोबल से और किसी ने अपने बाहुबल से । परन्तु तुम एक गुण से नहीं, वरन् इन सब गुणो से चक्रवर्ती राजा कहलाने के अधिकारी हो । तू बड़भागी और प्रतापी है जो अपनी प्रजा की हर तरह से रक्षा करता है । तू क्षमाशील और बुद्धिमान् भी है । पर दूसरा राजा जरासंध भी इस उपाधि का दावेदार बना है । उसके बल की थाह इसी से लग

जाती है कि उसने क्षत्रियों के 100 कुलों को पराजित किया है और कोई उसका सामना नहीं कर सका । वह अत्यन्त अभिमानी है । जो राजा हीरे और मोती धारण करते है वे उन्हें उसे भेंट करते हैं तो भी वह प्रसन्न नहीं होता, क्योंकि वह आरम्भ से ही दुःशील है । सबसे बड़ा कहलाकर भी वह अपने अधीन राजाओं पर अत्याचार करता है और सबसे कर लेता है । किसी की सामर्थ्य नहीं, जो उसका सामना कर सके । उसके बन्दीगृह में पड़े हुए अनेक राजा अपने जीवन के दिन काट रहे हैं । तथापि हे महाराज ! यह याद रखना चाहिए कि रणक्षेत्र में वीर गति पाने वाला क्षत्रिय सीधा स्वर्ग को जाता है । इसलिए हम सब मिलकर जरासंध से युद्ध करें । 86 राजघरानो को वह मिट्टी में मिला चुका है । 100 घरानों में अब केवल 14 बचते है । जब ये 14 भी उसके अधीन हो जायेंगे तो वह नरमेध यज्ञ आरम्भ करेगा । जो पुरुष उसको इस काम से रोकेगा उसका पराभव होगा । इसलिए जो जरासंध का दमन कर सकेगा वही राजाओं का महाराजा और राजसूय यज्ञ करने का अधिकारी होगा ।''

महाराज कृष्ण के कथन को सुनकर युधिष्ठिर कहने लगे, 'हे कृष्ण, यह कैसे हो सकता है कि मै चक्रवर्ती राजा की पदवी के लालच में आकर तुमको जरासंध से लड़ने के लिए भेजूँ ? अर्जुन और भीम मेरे दोनों नेत्रों के समान हैं और आप हे कृष्ण, मेरे हृदय रूप हो । यदि मुझसे मेरे नेत्र और मेरा हृदय पृथक् कर दिया जावे, तो मैं किस प्रकार जीवित रह सकता हूँ ? जरासंध की सेना को तो यमराज भी लड़ाई में हरा नहीं सकते । तुम या तुम्हारी सेना क्या चीज है । मुझे तो इस काम में भलाई नहीं दिखाई देती । ऐसा न हो कि परिणाम और का और ही हो जाये । इसलिए मेरी सम्मति है कि इस काम में हाथ न डाला जावे । हे कृष्ण ! मेरी समझ में इससे अलग रहना ही बुद्धिमानी है, क्योंकि इसका पूरा होना अत्यन्त कठिन है ।''

यह सुनकर अर्जुन बोला, 'हे राजन् ! क्षत्रिय का धर्म है कि वह अपने बाहुबल से शत्रुओ का हनन करे तथा सदा अपना यश और अपना प्रसार बढ़ाता रहे । क्षत्रिय के गुणों में शूरता सबसे बढ़कर है । वीरों के कुल में जन्म लेकर जो कायर हुआ, वह घृणा के योग्य है । विद्वानो के समीप मनुष्य के लिए कुलीन वंशज होना यद्यपि सबसे बढकर है परन्तु यदि कोई वीर ऐसे वंश में जन्म ले, जिसे वीरों के जन्म देने का पहले सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था तो समझना चाहिए कि वह उससे भी बढ़कर है, जिसने वीरों के वंश में जन्म लिया है । वीर सदा अपने शत्रु पर जय पाता है । परन्तु जो पुरुष वीरता के भरोसे असावधानी से काम करता है वह सदा सफल नहीं होता । इसी से वीर या बलवान पुरुष कभी-कभी बलहीन के हाथों मारे जाते है । जैसे बलहीन पुरुष नीचता का शिकार हो जाता है, उसी तरह कभी-कभी बलवान अपनी मूर्खता से मारा जाता है । इसलिए जो राजा विजयी होने की इच्छा रखे, उसे इन दोनों बातों से बचना चाहिए । इसलिए हे राजन् ! यदि हम राजसूय यज्ञ करने के लिए जरासंध का वध करें और उसके बन्दियों को छुटकारा दें, तो इससे अच्छा दूसरा काम और क्या हो सकता है । पर भय से यदि हम इस काम से भागें तो इससे हमारी मूर्खता और कायरता ही सिद्ध होगी और लोग हमें कायर कहेंगे इसलिए हे राजन् ! आप लोगों को हमारे उपहास का अवसर न दें ''

फिर कृष्ण बोले, ''अर्जुन ने ठीक वही कहा है, जो एक भरत सन्तान और कुन्तीपुत्र को कहना चाहिए । यह जीवन स्वप्नवत् है । इसका भरोसा नही कि किस समय मृत्यु आ घेरे । हमने यह भी नहीं सुना है कि लड़ाई से अलग रहने से जीवात्मा को अमरत्व प्राप्त हो जायगा । अतएव प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि शास्त्रों के अनुसार अपने शत्रु पर चढ़ाई करे क्योंकि इसी से उसे शांति मिलती है । जो पुरुष बुद्धिमानी से काम करता है उसको (यदि उसके पिछले कर्म खोटे नहीं है) निश्चय ही सफलता मिलती है । यदि दोनों के कर्म अच्छे हैं और दोनो विचार कर चलते है तब भी एक की जीत होगी और दूसरे की हार । परन्तु जो बिना विचारे चलेगा वह अवश्य हारेगा । और यदि दोनों मूर्ख हैं तब भी आवश्यक है कि एक सफल हो, क्योंकि दोनों जीत नहीं सकते । इसलिए हम क्यों न बुद्धिमानी से शत्रु पर चढ़ाई करें । जल का वेग बड़े-बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ देता है । जरासंध के वीर और प्रतापी होने में कुछ सन्देह नही, पर क्या डर है ? यदि हम भी अपने संबंधियों के लिए उससे युद्ध ठानें, या तो हम युद्ध में उसे मारेंगे या स्वयं लड़ाई में मर सीधे स्वर्ग का रास्ता लेंगे ।''

जब युधिष्ठिर ने देखा कि भीम, अर्जुन और कृष्ण सब इस लड़ाई के लिए बद्धपरिकर है तो कृष्ण से उसने जरासंध का इतिहास पूछा । कृष्ण ने सारा वृत्तान्त सुनाकर अन्त में कहा कि जरासंध के बड़े-बड़े योद्धा जिन पर उसे बड़ा भरोसा था, वे सब मर गये है । इसलिए अब समय आ पहुँचा है कि उसका नाश किया जावे । किन्तु सीधी लड़ाई मे उस पर विजयी होना संभव नहीं है । हमारा विचार है कि उससे मल्लयुद्ध करके उसका वध किया जावे ! आप मेरी नीति और भीम के बल पर विश्वास रखें । अर्जुन हम दोनों की रक्षा करेगा । हमारा तो विश्वास है कि हम तीनों मिलकर अवश्य उसको मार डालेंगे ।

जब हम तीनों उसके पास जायेंगे तो यह अनिवार्य होगा कि वह हममें से किसी एक से लडे । वरन् उसके अभिमान का विचार कर कहना पड़ता है कि वह भीम से ही लड़ने को तैयार होगा । बस फिर क्या है, जिस तरह मृत्यु दंभी पुरुष का विनाश कर देती है उसी तरह भीमसेन जरासंध का वध कर डालेगा । यदि आप मेरे भीतर की बात पूछते हैं या आपको मुझमें कुछ भी श्रद्धा है तो आप अब तनिक भी देर मत कीजिए और अर्जुन और भीम को मेरे साथ कर दीजिए । युधिष्ठिर इस उचित परामर्श को कैसे ठुकराता । कृष्ण की अन्तिम अपील ने युधिष्ठिर को पिघला दिया और उन्होंने नम्रतापूर्वक कृष्ण का हाथ चूमा और गद्‌गद होकर कहने लगे, ''किसकी सामर्थ्य है जो कृष्ण और अर्जुन का सामना कर सके, पुन: जब भीम उनके साथ है । प्रत्येक चढ़ाई की सफलता सेनापति की बुद्धिमत्ता पर निर्भर होती है । जिस सेना का आधिपत्य कृष्ण के हाथ में हो, उसकी सफलता में क्या संदेह है ? इसलिए अर्जुन ! तुम्हें उचित है कि तुम कृष्ण मे श्रद्धा रखकर उनको अपना नेता मानो और भीम को भी चाहिए कि वे अर्जुन के तेज को अपना अग्रगामी वनायें ।''

जहाँ नीति, तेज और शूरता ये तीन गुण एकत्र हो जाते हैं, वहाँ सफलता हाथ जोडकर खडी रहती है ।

सोलहवाँ अध्याय

कृष्ण, अर्जुन और भीम का जरासंध की राजधानी में आगमन

युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर अर्जुन और भीम कृष्ण के साथ अपनी राजधानी से निकले । हम पूर्व लिख चुके है कि कृष्ण का अभिप्राय था कि जरासंध को मल्लयुद्ध करने के लिए तैयार किया जाय । इसके लिए उन्हे यह आवश्यक लगा कि वे तीनों जरासंध के यहाँ जावें । परन्तु यदि वे अपने यथार्थ वेष में गये तो उन्हें राजधानी के भीतर जाने की आज्ञा भी नहीं मिलेगी, इसलिए इन तीनों ने क्षत्रिय का रूप छोड़ स्नातक का वेष धारण किया और गिरिराज की नगरी की ओर चले । जब नगर के निकट पहुँचे तो सोचने लगे कि शत्रु के घर मुख्य मार्ग से जाना और फिर उस पर वार करना धर्म-मर्यादा के विपरीत है । इसलिए यह निश्चय किया, कि किसी चोर द्वार से अन्दर घुसना चाहिए । गिरिराज की नगरी के एक ओर एक ऊँची पहाड़ी खड़ी थी जो रक्षा के लिए दीवार का काम देती थी । ये तीनों उस पहाड़ी पर चढ़े और उस पर से होकर शहर मे जा घुसे । स्नातक ब्राह्मण के वेष में फूलों की माला गले में पहन, देह में सुगन्धित तेल मलकर राजद्वार पर जा पहुँचे और महाराज जरासंध से भेंट करने की इच्छा प्रकट की । महाराज ने जब सुना कि तीन स्नातक ब्राह्मण मेरे द्वार पर आये हैं तो वह शीघ्र अपने महलों से नीचे उतरा और सम्मानपूर्वक उनके सामने आ खड़ा हुआ । इन्हें देखकर वह चकित हो गया । यद्यपि इनका वेष स्नातक ब्राह्मणो का था, पर इनके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग से क्षात्रत्व झलक रहा था । वह भी चतुर था, उसने अपना भाव प्रकट होने नही दिया और पूजा करने के लिए झट आगे बढा । उसके आगे बढ़ते ही दूसरी ओर से उत्तर मिला कि हम आपकी पूजा को स्वीकार नही कर सकते । अब तो राजा का सन्देह और भी पक्का हो गया और उसने उनसे पूछा कि वे कौन हैं, और क्यों इस वेष में उसके सामने आकर भी उसकी पूजा ग्रहण नहीं करते ?

कृष्ण बोले, "हे राजन् ! प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह स्नातकों के धर्म का अनुगामी बने । हम यद्यपि इस समय फूलो का हार पहने है, परन्तु हम इस समय स्नातक धर्म मे दीक्षित हैं । तथापि हम तेरे शत्रु हैं और शत्रुता के भाव से ही तेरे सामने आये हैं । इसीलिए न तो हम मुख्य द्वार से तेरे नगर से आये और न हमने तेरी पूजा स्वीकार की, अपितु शत्रु के समान पहाड़ी से नगर में उतरे हैं ।" जरासंध यह उत्तर सुनकर बोला, "हे महानुभाव ! जहाँ तक मुझे याद आता है मैंने कभी तुम्हारी कुछ हानि नहीं की है, फिर तू मेरा शत्रु क्यों बना ? ऐसा न हो कि तू किसी भ्रम में पड़ा हो । मैं तो सदा धर्म के अनुकूल ही काम करता

हूँ ।'

कृष्ण ने उत्तर दिया, "हे नृप ! तुमने क्षत्रिय वंश पर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं । अनेक राजाओं को तुमने बिना प्रयोजन कारागार में बन्द कर रखा है । क्षत्रिय पुत्रों से तू शूद्रों का काम लेता है । राजपुत्रों पर तू नाना प्रकार के अत्याचार करके अपने को निष्पाप समझता है । हम लोग धार्मिक हैं, धर्म हमारा जीवन है और धर्म की रक्षा करना परम धर्म और कर्तव्य है । हमे परमेश्वर ने यह सामर्थ्य दी है कि हम धर्म की रक्षा कर सकें । यह सामर्थ्य रखकर भी तुझे तेरे बुरे कामों का दंड न देना मानो अपने आपको पाप का भागी बनाना है । अन्यायी का सिर कुचलना और पीडित की सहायता करना प्रत्येक क्षत्रिय का परम धर्म है । हम इसी अभिप्राय से यहाँ आये है कि तुझे याद रहे कि हम ब्राह्मण नही हैं । हम क्षत्रिय है । मेरा नाम कृष्ण है । ये दोनों मेरे साथी पाण्डुपुत्र हैं । इनमे से एक का नाम अर्जुन है और दूसरे उनके भाई भीमसेन है । हम तुझसे मल्लयुद्ध करने आये हैं । या तो तू उन सब क्षत्रियों को स्वतंत्र कर दे जिनको तूने दास बना रखा है अथवा हमसे युद्ध कर । हम क्षत्रिय कुलभूषण महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से तुझसे अपनी जाति का बदला लेने के लिए आये हैं । मरने से तो हमें भय नहीं क्योंकि हमें विश्वास है कि धर्मयुद्ध में मरने से क्षत्रिय योद्धा स्वर्ग जाता है । यदि तू अपने आपको पृथिवी पर महाबली समझता है तो यह तेरी भूल है, क्योंकि संसार में अभिमानी पुरुष निश्चय ही नाश को प्राप्त होता है । इस संसार में एक से एक बढ़कर प्रतिभाशाली हैं । इसलिए हे राजन् ! अपनी बुराइयों को छोड़, परमेश्वर का डर मान और इन बन्दी राजाओं को छोड दे अथवा हमसे युद्ध कर ।"

कृष्ण की इस लम्बी और प्रभावशाली वक्तृता को सुनकर जरासंध हँसा और बोला, 'हे कृष्ण, तू जानता है कि मैं बिना युद्ध में पराजित किये किसी को भी बन्दी नहीं बनाता । फिर मै ऐसा भीरु भी नहीं कि किसी की धमकियों से उन्हें स्वतंत्र कर दूँ । मैं युद्ध के लिए तैयार हूँ । या तो सेना सहित मुझसे युद्ध करो या तुममें से एक या दो या तीन मिलकर मुझ अकेले से लड़ो ।"

इस पर कृष्ण ने कहा, "आप ही बताइये कि हम तीनों में से आप किससे युद्ध करेंगे ?"

यह सुनकर जरासंध ने कृष्ण और अर्जुन की ओर देखा तो ये दोनों उसे दुर्बल जँचे क्योंकि उनका शरीर दुबला-पतला था । इसलिए उसने उन दोनों से युद्ध करना अपनी मर्यादा से बाहर समझकर भीम से युद्ध करना पसन्द किया ।

जब भीम और जरासंध की जोड़ी ठहर गई तो राजा जरासंध ने बहुत-से ब्राह्मणों को यज्ञ करने के लिए कहा और स्वयं राजमुकुट उतार, केश बाँधकर लड़ने के लिए मैदान में उतर आया । उधर से भीम भी मुकाबले के लिए आ गया और दोनों में हाथापाई होने लगी । चौदह दिन तक मल्लयुद्ध हुआ और दोनों ने ही अपने दाँव-पेंच का अन्त कर डाला, पर कोई भी पराजित नहीं हुआ । निदान चौदहवें दिन जरासंध का दम टूट गया । जरासंध को थका हुआ देखकर कृष्ण ने भीम को ललकारकर कहा कि थके हुए शत्रु पर हाथ चलाना उचित नहीं । इस

पर भीम ने कहा, ''यह नहीं मानता कि मैं थक गया हूँ, और अभी लड़ने को मेरे सामने खड़ा है। अतएव मैं भी किस तरह हट सकता हूँ।'' लड़ाई फिर होने लगी और भीम ने जरासंध को उठाकर इस जोर से भूमि पर दे मारा कि उसका काम वहीं तमाम हो गया।

जरासंध के मरते ही कृष्ण ने भीम व अर्जुन को रथ पर सवार कराया और आप सारथी बनकर दुर्ग में प्रवेश किया। उन्होंने सबसे पहले उन राजाओं को बन्दीगृह से छुटकारा दिलाया जो वर्षों से उसमें पड़े सड़ रहे थे। फिर उन सबको अपने साथ लाकर नगर से बाहर एक शिविर में रखा।

इन सब राजाओं ने कृष्ण के समक्ष हीरे आदि रत्नों की भेंट चढ़ाई और प्रसन्नतापूर्वक अपने लिए कुछ सेवा का आदेश करने की याचना की।

इस पर कृष्ण महाराज ने उत्तर दिया, महाराजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते है। आपको चाहिए कि उनको इस यज्ञ में सहायता देकर उनके प्रति अपनी भक्ति को सिद्ध करे। इस बात को सुनकर सारे राजाओं ने एकमत होकर इसे स्वीकार किया। जरासंध का पुत्र सहदेव भी भेंट लेकर उपस्थित हुआ और महाराज कृष्णचन्द्र ने प्रसन्न होकर सबके सामने उसका राजतिलक कर दिया और पिता की गद्दी पर बिठाया। इन कामों से निश्चिंत होकर वे वहाँ से चले आये।

यह सारा प्रसंग प्राचीन भारतवर्ष की युद्धकला की जानकारी देता है।

(1) महाराज कृष्ण का स्नातक के वेष में फूल माला पहनकर जरासंध के दरबार मे जाना।

(2) सदर फाटक से नगर में न प्रवेश करना।

(3) जरासंध की पूजा न लेना और निर्भय होकर अपने विचार प्रकट करना।

(4) जरासंध का भी उनकी इस कार्यवाही पर क्रुद्ध न होना और युद्ध की चुनौती को स्वीकार कर लेना।

(5) जरासंध के मारे जाने पर उसके पक्ष वालो का अपनी हार मानना और कृष्ण आदि पर चढ़ाई न करना।

(6) कृष्ण का जरासंध के पुत्र को गद्दी पर बिठाना, इत्यादि ऐसी घटनाएँ है जो आर्यजाति की उच्च सभ्यता को भली भाँति प्रमाणित करती है।

सत्रहवाँ अध्याय

राजसूय यज्ञ का आरम्भ : महाभारत की भूमिका

राजा जरासंध पर जय प्राप्त करके कृष्ण आदि महाराज युधिष्ठिर की राजधानी में लौट आये । युधिष्ठिर ने यथायोग्य उनका सम्मान किया और गद्‌गद हो कृष्ण को गले से लगाया । अब यज्ञ की तैयारियाँ होने लगीं । सभामंडप बड़ी धूमधाम से सजाया गया । राजा-महाराजाओं के पास दूत भेजे गये । भोजन आदि का पूरा प्रबन्ध किया गया । दूर-दूर से वेद-पाठी विद्वान् ब्राह्मण निमंत्रित हुए । हवन की सामग्री में बहुमूल्य सुगन्धी वाले पदार्थ मँगाये गये । दान देने के लिए सोना, चाँदी, रत्न तथा वस्त्राभूषण एकत्र किये गये । अतिथियो के निवास के लिए सुन्दर महल सजाये गये और कोसों तक डेरे तथा तंबू लगाये गये ।

धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, द्रोण, दुर्योधन, कर्ण तथा दूसरे भ्रातृगण एकत्रित हुए ।[1]

अब जब तैयारियाँ पूरी हो गई तो भाई-बन्धुओं में से यज्ञ के कार्यकर्ता नियत किये गये । श्रीकृष्ण ने अपने लिए यह काम स्वीकार किया कि जो ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिए यज्ञशाला में आयेंगे उनके चरण धो देंगे और यज्ञशाला पर पहरा भी देंगे । इस प्रकार जब सब तैयारियाँ समाप्त हुईं और यज्ञ के प्रारम्भिक कृत्य होने लगे तो अब यज्ञकर्ता की ओर से सभी अतिथियों को भेंट देने का समय आया ।[2] इस विषय में भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा, ''हे युधिष्ठिर ! अतिथियों को भेंट देने का समय आ पहुँचा है । अब तुम्हें उचित है कि प्रत्येक को यथायोग्य भेंट प्रदान करो । छः प्रकार के पुरुष तुमसे इस सम्मान को पाने के अधिकारी है (1) गुरु, (2) यज्ञ करने वाले पंडित, (3) सम्बन्धी, (4) स्नातक ब्राह्मण, (5) मित्र, (6) राजे-महाराजे । सबसे पहले उस पुरुष के सामने भेंट रखो जिसे तुम इस सारी सभा में श्रेष्ठ समझते हो ।'' मुख से कह देना या लेखनी से लिखना तो सहज है, पर ऐसी प्रतिष्ठित सभा मे जहाँ विद्वान् और वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण और शूरवीर क्षत्रिय राजा-महाराजा बैठे थे, वहाँ यह निर्णय करना बड़ा कठिन था कि कौन इन सबमें श्रेष्ठ और सबसे अधिक गौरव का पात्र है

1 जिन राजा-महाराजाओ के नाम महाभारत में, राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने की सूची मे दिये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि इस यज्ञ में सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजा सम्मिलित थे । दक्षिण के द्रविड़ और सिंहल के राजाओं के नाम भी उस सूची में लिखे हैं । उत्तर दिशा मे काश्मीर, पूर्व दिशा मे बंग (बंगाल) और पश्चिम दिशा में मालव, सिन्ध इत्यादि हैं।

2 प्राचीन आर्यावर्त में यह रीति थी कि प्रत्येक धार्मिक कार्य के आरम्भ में कार्यकर्ता ऐसे पुरुषों को जो आदर-सत्कार

एक ओर धृतराष्ट्र और भीष्म जैसे सज्जन और ज्येष्ठ पुरुष, दूसरी ओर द्रोण जैसे आचार्य तीसरी ओर शूरवीर और धनाढ्य राजा-महाराजा थे। युधिष्ठिर चकित था कि ऐसी भारी सभा मे मैं किसे सबका शिरोमणि मानूँ। निदान उसने महाराज भीष्म से प्रार्थना करते हुए कहा कि आप ही मुझे बताइये कि इस महती सभा मे कौन महापुरुष मुझसे पहले सम्मान (अर्घ्य) पाने का अधिकारी है।

भीष्म ने उत्तर दिया, 'हे युधिष्ठिर ! इस सभा मे कृष्ण सूर्य के समान चमक रहे हैं। वही सबसे बढ़कर गौरवपात्र है। उठिये ! और सबसे पहले उन्हीं को भेंट (अर्घ्य) दीजिए।'

युधिष्ठिर ने कहा, ''तथास्तु।''

भीष्म के यह कहते ही जहाँ एक ओर आनन्द की ध्वनि गूँज उठी, वहाँ दूसरी ओर मानो वज्र टूट पड़ा। विघ्नतोषी लोगों की आशाओ पर पानी फिर गया, और सन्नाटा छा गया। तत्काल सबको लगा कि बस कुछ बखेड़ा अवश्य होगा। अतिथियों की मंडली में चेदि देश का राजा शिशुपाल बैठा हुआ था। यह महाराज कृष्णचन्द्र का मौसेरा भाई था पर सदा से ही जरासंध का पक्ष लेकर कृष्ण से लड़ता आया था। भीष्म के वचन सुनकर वह क्रोधान्ध हो गया और भीष्म, युधिष्ठिर तथा कृष्ण को बुरा-भला कहने लगा। उसके कथन का सार यह था कि युधिष्ठिर और भीष्म ने सर्वप्रथम कृष्ण को अर्घ्य देकर सारी सभा का अपमान किया है। कृष्ण कदापि इस मान के योग्य नहीं है। न तो वे मुकुटधारी राजा है और न वयस् मे बड़े हे। न वे आचार्य हैं और न सबसे बलवान् योद्धा हैं। फिर क्यों उन्हें इस प्रकार सबसे ऊँचा आसन प्रदान किया गया ? फिर शिशुपाल ने उपस्थित राजाओ के नाम लिए और भीष्म को चुनौती देते हुए कहा कि आप ही बताइये, इन सबकी उपस्थिति मे क्यों कृष्ण की यों प्रतिष्ठा की गई ? उसने कहा कि यदि वयस् का विचार हो तो उसके पिता वसुदेव, धृतराष्ट्र, द्रुपद, भीष्म और कृपाचार्य आदि ज्येष्ठ पुरुष उपस्थित है। यदि विद्या देखी जाये तो द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा दूसरे महान् विद्वान् यहाँ उपस्थित है। राजाओं में भी बड़े-बड़े वीर योद्धा राजा दीख रहे हैं। फिर भीष्म ने इस मान के लिए कृष्ण का नाम ही क्यों लिया जो न आचार्य है, न राजा है, न वयस् में बड़ा और न महाबली है।

उसने आगे कहा, जिसने छल से राजा जरासंध का वध किया, बड़े दुख की बात है कि उसे अर्घ्य देकर भीष्म ने पक्षपातपूर्ण अधर्म का काम किया है और सबसे अधिक दुख इस बात का है कि युधिष्टिर ने धर्म का अवतार होकर भी इस निर्णय को मान लिया। पुन: धिक्कार है कृष्ण पर जिसने इस अधम व्यवस्था को स्वीकार किया।

इसके पश्चात् महाभारत में लिखा है कि वह अपने साथियों सहित सभा से उठकर चल दिया।

युधिष्ठिर उसके पीछे गया और उसे मनाने लगा। उसने कहा, ''शिशुपाल ! देखो, जितने विद्वान् और योद्धागण यहाँ बैठे हैं वे सब इस बात को मानते है कि कृष्ण ही इस सम्मान के उपयुक्त हैं। फिर तू क्यों ऐसे कठोर वचन बोलता है ?''

भीष्म ने भी अपने उत्तर मे कहा कि शिशुपाल धर्म-मार्ग को नहीं जानता क्षत्रियों की यह

मर्यादा है कि जो शत्रु पर जय पाकर भी उसे छोड़ दे वह उसका गुरु हो जाता है । कृष्ण न केवल महाबली क्षत्रिय है जिन्होंने हजारों क्षत्रियों को स्वतंत्रता प्रदान की है, वरन् वे वेदों के ज्ञाता और विद्वान् है और इसलिए इन दोनों गुणों से संयुक्त होने से हम सबमें से वे ही गौरवान्वित होने के योग्य है ।[1]

पुनः सहदेव कहने लगा, ''यदि इस सभा में कोई पुरुष द्वेषवश कृष्ण के तेज और मान को सहन नहीं कर सकता तो उसके सिर पर मेरा पैर है । यदि वह वीर है तो मैदान में आवे, नहीं तो सबको उचित है कि भीष्म के निर्णय को स्वीकार करें ।'' निदान ऐसा ही हुआ । पर जब पाण्डवों ने कृष्ण को भेंट चढ़ाई तो शिशुपाल फिर भीष्म और कृष्ण को बेतुकी बातें सुनाने लगा, जिसका अंत इस प्रकार हुआ कि दोनों दलों में विवाद आरम्भ हो गया । एक ओर पाण्डव पक्ष वाले कृष्ण की स्तुति करते थे और दूसरी ओर शिशुपाल उनके अवगुणो का वर्णन करता था । सारांश यह कि इस प्रकार कुछ समय तक विवाद चलता रहा । बिचारा युधिष्ठिर दुखित हो दोनो पक्षों को संबोधित कर रहा था, पर उसकी कोई सुनता ही नही था । निदान उसने भीष्म से कहा कि पितामह ! इस झगड़े को अब आप ही शान्त कीजिए । भीष्म ने उत्तर दिया कि जब शिशुपाल और उसके पक्ष वाले समझाने से भी नही मानते तो फिर इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि यदि उनमें सो कोई अपने आपको कृष्ण से अधिक शक्तिशाली समझे तो वह उनसे युद्ध करे और परिणाम देख ले । आप ही निर्णय हो जाएगा कि कृष्ण इस मान के योग्य है या नहीं । अब शिशुपाल ने जी खोलकर कृष्ण और भीष्म को गालियाँ दीं और अन्ततः बोला, ''अच्छा, यदि कृष्ण वीर है तो मेरे साथ युद्ध करे ।'' युद्ध में कृष्ण की जय हुई और शिशुपाल मारा गया । शिशुपाल के सारे पक्षपाती अपना-सा मुँह लेकर रह गये । महाराज युधिष्ठिर ने पहले शिशुपाल का दाह-संस्कार किया फिर उसके पुत्र को राजतिलक देकर राजसूय यज्ञ रचाया । यज्ञ की समाप्ति पर जब सब अतिथि विदा हो चुके तो कृष्ण भी युधिष्ठिर और द्रौपदी की आज्ञा से द्वारिका लौट आये ।

---

1. वेद वेदांग विज्ञानं बलं चाप्यधिक तथा ।
   नृणालोके हि को ऽन्यो ऽस्ति विशिष्ट केशवादृते ॥

अठारहवाँ अध्याय

कृष्ण-पाण्डव मिलन

प्रत्येक हिन्दू इस बात को भली प्रकार जानता है कि राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर दुर्योधन और उसके पक्ष वालों ने धूर्तता से महाराज युधिष्ठिर को जुआ खेलने पर तत्पर करके उनसे उनका सारा राजपाट छीन लिया। यहाँ तक कि उसने अपनी पत्नी और स्वयं को दाँव पर लगा दिया तथा यह दाँव भी हार गया। इसके पश्चात् दु:शासन का द्रौपदी को घसीटकर सभा में लाना, द्रौपदी का विलाप करना, और सभा में कोलाहल मचना इत्यादि वे घटनाएँ ऐसी हैं जिनका कृष्ण के जीवन से कोई संबंध नहीं है। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि अन्त में महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा से पाण्डवगण द्रौपदी सहित बारह वर्ष के लिए देश से निकाले गये और अपना शहर छोड़ वन में विचरने लगे। जब इनके भाई-बन्धु तथा इष्ट मित्रों को इस विपत्ति का समाचार मिला तो वे एक-एक करके इनसे मिलने और सहानुभूति प्रकट करने के लिए आने लगे। महाराज कृष्ण ने जब यह वृत्तान्त सुना तो वे बड़े दुखित हुए और बहुत-से साथियों को लेकर इनसे मिलने को चले।

युधिष्ठिर और अर्जुन इत्यादि की बुरी दशा देखकर वे बड़े क्रुद्ध हुए, पर जब द्रौपदी के सामने गये तो उसने विलाप के द्वारा पृथिवी-आकाश एक कर दिये। वह रो-रोकर अपने पति और दूसरे सम्बन्धियों को बुरा-भला कहने लगी। उसने अपने अपमान की कथा सुनाकर भीम और अर्जुन की वीरता पर आक्षेप किया और अन्त में यहाँ तक कह दिया कि मेरे लिए तो ये सब संबंधी और मित्र मर ही गये, क्योंकि जब शत्रुओं ने भरी सभा में मेरा अपमान किया तो किसी ने मेरी सहायता नहीं की।

द्रौपदी के इस विलाप को सुनकर कृष्ण ने उसके समक्ष प्रतिज्ञा की, 'हे कृष्णा ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे शत्रुओं से इस अनीति का बदला लूँगा, तुझे तेरा राजपाट पुन: दिलाकर राज-सिंहासन पर बिठाऊँगा। हे द्रौपदी ! तू रो मत। चाहे आकाश टूट पड़े, धरती फट जावे, पर मेरा प्रण मिथ्या न होगा।''

इस प्रकार उसे सम्बोधन कर कृष्णचन्द्र महाराज युधिष्ठिर के पास आये और उनको बहुत कुछ उपदेश किया। वे उनके समक्ष जुआ खेलने की हानि बताते रहे।

उन्नीसवाँ अध्याय

महाराज विराट के यहाँ पाण्डवों के सहायकों की सभा

धृतराष्ट्र ने जब युधिष्ठिर को जुए में पराजित होने के कारण बारह वर्ष का देशनिकाला दिया तो उसके साथ यह भी बन्धन लगाया था कि तेरहवें वर्ष में पाण्डुपुत्र वेष बदलकर ऐसी सेवावृत्ति से पेट भरेंगे ताकि दुर्योधन और उसके साथियो को उनका पता न लगे। बारह वर्ष का देश-निकाला समाप्त हो जाने पर पाँचों पांडवों ने द्रौपदी और अपने पुत्रों सहित महाराज विराट के यहाँ नौकरी कर ली। उन्होंने ऐसी युक्ति से अपने को छिपाया कि बारह महीने तक विराट को पता ही नहीं लगा कि उसके किंकरों में पाँच क्षत्रिय कुल भूषण वचनबद्ध होकर उसकी सेवा-टहल कर रहे है। उधर दुर्योधन को बहुत खोज करने पर भी उनका कुछ पता न चला। देश-निकाले के दिनों में इनके भाई-बन्धु इनसे भेंट करने आते और इनकी सहायता करते थे। कृष्ण और उनके भाई बलराम भी इनके पास कई बार आये और बहुत दिनों तक उनके साथ रहे। एक बार बलराम ने यह प्रस्ताव किया कि युधिष्ठिर इत्यादि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वनवास मे रहें पर उनके सम्बन्धी और मित्रगण दुर्योधन पर चढ़ाई करके उससे उनका देश लौटा लें और उसे अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु को प्रबन्ध के लिए सौंप दें। कृष्ण ने उत्तर में निवेदन किया कि जो कुछ आप कहते है वह सम्भव तो है पर पाण्डवों को यह कब स्वीकार होगा कि वे दूसरे के परिश्रम का फल खुद भोगें और इस प्रकार अपने क्षत्रिय धर्म पर बट्टा लगायें।

कृष्ण के इस कथन पर युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि मुझे राज्य की इतनी इच्छा नही जितना धर्म का आग्रह है। यदि मुझे स्वर्ग का राज्य भी मिले तो भी मैं सचाई से नहीं हट सकता। थोडे-से जीवन के लिए मैं अपना प्रण भंग नहीं कर सकता।

युधिष्ठिर और उसके भाइयों ने बड़े कष्ट उठाये और विपत्ति तथा आपदाओ को सहन किया। अपनी प्रिय धर्मपत्नी का अपमान भी अपनी आँखों से देखा। निम्न समझी जाने वाली सेवा करना पसन्द किया, पर अपने वचन का पूरे तौर से निर्वाह किया और तेरह वर्ष तक राजपाट की ओर ध्यान तक न किया।

प्रिय पाठक ! लीजिए तेरहवाँ वर्ष समाप्त होता है, और महाभारत युद्ध की नींव पडने लगती है। आइये, इस महान् युद्ध की कथा सुनिये। इस लड़ाई का प्रथम दृश्य आज महाराज विराट के महलों में दिखाई दे रहा है। भारतवर्ष के विख्यात राजा-महाराजा और विद्वान् ब्राह्मण यहाँ एकत्र हैं और सोच-विचार कर रहे हैं कि युधिष्ठिर का राज्य उसे दिलाने के लिए अब क्या कार्यवाही करनी चाहिए। इस सभा को युद्ध-समिति कहें, राजनीतिक परिषद् कहे या धर्मसभा कहें आपकी जो इच्छा हो आप इसका नाम रखें क्योंकि इसमें सभी पक्षों के कुछ-

कुछ भाव पाये जाते है । हर एक पक्ष को पूरे तौर से समझने और उससे आनन्द उठाने के लिए अपने को तैयार कीजिए क्योंकि इसमें भाग लेने वाले सभासदों की वक्तृताएँ गूढ़ और सारगर्भित हैं । उस समय के राजाओं में से जितने भी युधिष्ठिर के पक्ष में थे, वे सब यहाँ विद्यमान हैं । कृष्ण भी अपने पिता और माता सहित यहाँ बैठे दीख पड़ते हैं । सबसे पहले कृष्ण ही बोले—

"युधिष्ठिर की आपत्कथा आप सब महाशयों पर विदित है । दुर्योधन ने युधिष्ठिर और उसके भाइयों का नाश करने के लिए जो-जो युक्तियाँ समय-समय पर की है, वह भी आप सब भली भाँति जानते है । युधिष्ठिर ने जिस प्रकार उसका सामना किया तथा लड़ाई और सन्धि मे भी धर्माचरण किया, वह भी आपको ज्ञात है । सारे आर्यावर्त में किसी की शक्ति नहीं जो अर्जुन और भीम का सामना करके युद्ध मे उन पर जय पा सके । तथापि युधिष्ठिर अधर्म, अन्याय और अनीति से किसी का राजपाट नहीं लेना चाहते । अन्याय से यदि उन्हें स्वर्ग का राज्य भी मिले, तो वह उसे अंगीकार नहीं करेंगे और न्याय से यदि उन्हें एक गाँव मिले तो वह उसी पर संतोष कर लेंगे । युधिष्ठिर और उनके भाइयों ने धृतराष्ट्र से जो-जो प्रतिज्ञाएँ कीं उनका एक-एक अक्षर पूरा कर दिखाया, इसलिए अब धृतराष्ट्र को उचित है कि उनका राजपाट उन्हें लौटा दे । पर हम नहीं कह सकते कि दुर्योधन का आन्तरिक अभिप्राय क्या है, इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि एक माननीय, सदाचारी तथा धर्मात्मा दूत उसके पास भेजा जाये, जो दुर्योधन का अभिप्राय जानकर उसे इस बात के लिए राजी करे कि वह युधिष्ठिर का आधा राजपाट उसे लौटाये और उससे मेल कर ले ।"

कृष्ण के ज्येष्ठ भाई बलराम ने उस प्रस्ताव का अनुमोदन किया । साथ ही इस बात के लिए दुःख प्रकट किया कि युधिष्ठिर ने जुए के दाव मे अपना सारा राजपाट गँवा दिया । उसने भी कौरवों से मेल कर लेने पर ही जोर दिया ।

इन दोनों वक्तृताओं को सुनकर राजकुमार सात्यकि नामक यादव उठा और बोला, " संसार में दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं, वीर और कायर । जिस वृक्ष में फल लगते है उसकी कोई-कोई शाखाएँ मुरझाई होती हैं और उनमें कभी फल नहीं लगते । मुझे इन दोनों के कथन पर दुःख नहीं किन्तु मुझे उन पर खेद होता है, जो मौन साधे उनकी वक्तृता को सुन रहे हैं । क्या कोई विचारवान् पुरुष मान सकता है, कि जुआ खेलना युधिष्ठिर का अपराध था ? क्षत्रिय का धर्म है, यदि उससे कोई वरदान माँगे तो वह उससे मुँह न मोड़े । दुर्योधन ने चालाकी से ऐसे पुरुषों को युधिष्ठिर से बाजी खेलने के लिए आगे किया जो इस विद्या में निपुण थे । युधिष्ठिर धर्मानुसार खेलता रहा और हार गया । इसमें उसका कोई अपराध नहीं । उसने अपने वचन को अन्त तक पूरे तौर से निभाया । क्या ऐसी दशा में अब यह उचित है कि वह दुर्योधन से भिक्षा माँगे और निर्बल या अभ्यागत के समान सन्धि का प्रार्थी हो ।

" फिर हम जानते हैं कि दुर्योधन कितना दुराचारी और झूठा है । क्या आपने नहीं सुना, यद्यपि युधिष्ठिर ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तेरह वर्ष का वनवास पूरा कर दिया, पर दुर्योधन अब यह कहता है कि तेरहवें वर्ष में हमने उनको पहचान लिया । भीष्म और द्रोण उसे बहुत

समझाते है पर वह नहीं मानता । अतएव मेरी सम्मति में तो उसे लड़ाई की सूचना दे देनी चाहिए । यदि वह युधिष्ठिर के पैरों पड़े, तो ठीक है, नहीं तो उसे उसके साथियों सहित यमलोक को पहुँचा दिया जाये । आज किसमें सामर्थ्य है जो अर्जुन और भीम जैसे योद्धाओं से युद्ध करे । इसलिए हे सज्जनो ! उठो और जब तक दुर्योधन को दण्ड न दे सको, दम न लो । ''

फिर महाराज द्रुपद कहने लगे, ''हे वीर ! मैंने तुम्हारी वक्तृता सुनी । मैं तुमसे सहमत हूँ । मेरी भी सम्मति है कि दुर्योधन यों ही सन्धि के लिए राजी नहीं होगा । धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के वश में है और वह उनका साथ देगा । भीष्म और द्रोण मन के इतने निर्बल है कि वे भी उसका साथ नहीं छोड़ेंगे । यद्यपि बलराम की सम्मति युक्तियुक्त है, पर मैं नही मान सकता कि दुर्योधन से चापलूसी की बातें करने से कुछ लाभ होगा । गधे के साथ नरमी करने से कार्य सिद्ध हो सकता है, पर भेड़िया नरमी के बर्ताव का पात्र नहीं । अतएव मेरी सम्मति है कि हम शीघ्र युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दें, और अपने इष्ट मित्रों तथा सम्बन्धियों को पत्र लिख दें कि वे अपनी-अपनी सेना सहित तैयार रहें । इस बीच में एक दूत दुर्योधन के पास अवश्य भेजे । मेरे पुरोहित मौजूद है, इन्हें दूत बनाकर भेज दिया जाय और वह दुर्योधन से जाकर सब बाते कहे ।''

महाराज द्रुपद की सम्मति को सबने पसन्द किया । सभा समाप्त हुई । दूत रवाना किया गया और कृष्ण तथा बलदेव द्वारिकापुरी लौट आये ।

बीसवाँ अध्याय

दुर्योधन और अर्जुन का द्वारिका-गमन

महाराज विराट के महल में जो सभा हुई उसकी सूचना दुर्योधन को भी पहुँच गई जिस पर उसने विचार किया कि किसी प्रकार कृष्ण को पाण्डवों की सहायता करने से रोकना चाहिए । अतएव वह द्वारिकापुरी की ओर चला । उसने यह सोच लिया था कि यदि मेरी प्रार्थना स्वीकृत हो गई तो यह समझना चाहिए कि मैंने युधिष्ठिर के दो बलवान सहायकों को कम कर दिया । दूसरी ओर यदि मेरी प्रार्थना स्वीकार न की गई तो मुझे कृष्ण से सदा के लिए यह शिकायत बनी रहेगी कि यद्यपि मै ही पहले सहायता का प्रार्थी हुआ था, पर उन्होंने मेरी सहायता नहीं की और मेरे विरुद्ध लड़े । पर संयोग ऐसा बना कि जिस दिन दुर्योधन द्वारिका पहुँचा उसी दिन अर्जुन भी वहाँ पहुँच गया । जिस समय दुर्योधन कृष्ण के महल में पहुँचा उस समय कृष्णचन्द्र सो रहे थे । दुर्योधन उनके सिरहाने एक आसन पर बैठ गया । इतने में अर्जुन भी वहाँ आ पहुँचा और उनके पैताने बैठा । जब कृष्ण जगे तो उठते ही उनकी दृष्टि अर्जुन पर पड़ी । जब दूसरी ओर देखा तो दुर्योधन को भी सिरहाने बैठा पाया । दोनों ओर से जब कुशल-क्षेम पूछी जा चुकी तो महाराज दुर्योधन बोले, 'हे कृष्ण, मैं तुमसे पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध में सहायता माँगने हेतु आया हूँ । मैं पहले आया हूँ इसलिए पहले मेरी प्रार्थना स्वीकार करनी चाहिए । हम दोनो का आपसे समान संबंध है और हम दोनों ही आपके मित्र हैं । ऐसी दशा में मेरी प्रार्थना पहले की गई और वह आपके द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए ।''

इस पर कृष्ण बोले, 'हे दुर्योधन ! तुमने जो कहा वह सत्य है । यद्यपि तुम पहले आये पर मेरी दृष्टि तो पहले अर्जुन पर ही पड़ी । इसके अतिरिक्त अर्जुन तुम से छोटा है । मुझे दोनों की ही सहायता करनी है । एक ओर मेरी सारी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला बिना किसी शस्त्र के हूँ । मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि इस लड़ाई में मैं शस्त्र नही चलाऊँगा । अब मै पहले अर्जुन को अवसर देता हूँ कि वह इनमें से एक को चुन ले कि क्या वह मेरी सारी सेना को लेना पसन्द करता है या मुझे । यदि उसने मुझ अकेले की सहायता चाही तो मेरी सारी सेना तुम्हारी सहायता को प्रस्तुत है और यदि उसने मेरी सेना पसन्द की तो मैं अकेला तुम्हारी सेवा करने को उपस्थित हूँ ।'' दुर्योधन ने इस बात को पसन्द किया । इसलिए जब अर्जुन से पूछा गया तो उसने उत्तर दिया कि मुझे महाराज कृष्णचन्द्र की ही सहायता चाहिए । मुझे उनकी सेना नही चाहिए । अर्जुन के ऐसा कहने पर दुर्योधन भीतर ही भीतर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कृष्णचन्द्र की सारी सेना सहायता के लिए ले जाना स्वीकार कर लिया । बलराम के साथ भी दुर्योधन ने यही चाल चली पर उन्होंने कहा कि मैं किसी पक्ष

को सहायता देना नहीं चाहता । जब दुर्योधन विदा हो चुका तो कृष्ण ने अर्जुन से पूछा, 'हे राजपुत्र ! तूने मेरी व्यक्तिगत सहायता को मेरी सारी सेना पर क्यों श्रेष्ट समझा ?'' अर्जुन ने कहा, ''आपकी सारी सेना से युद्ध करने के लिए तो मैं अकेला काफी हूँ । संसार में एक बुद्धिमान् पुरुष लाख मूर्खों से बढ़कर शक्ति रखता है । आपने इस युद्ध में शस्त्र को हाथ में न लेने की प्रतिज्ञा की है, अतएव मेरी इच्छा है कि आप मेरे रथ के सारथी बनें । यदि मेरे पास आप जैसे सारथी हों तो फिर किसमें सामर्थ्य है जो मेरा सामना कर सके और मुझसे बचकर चला जाये ।''

कृष्ण जी ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया ।

इक्कीसवाँ अध्याय

संजय का दौत्य कर्म

महाराज द्रुपद ने जो दूत पाण्डवों की ओर से धृतराष्ट्र के पास सन्धि के लिए भेजा था उसे कुछ सफलता नहीं हुई और दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ इस तीव्रता से होती रहीं जिससे सबको विश्वास हो गया कि आर्यावर्त की सारी वीरता और श्रेष्ठता का इसी लड़ाई में अन्त हो जाएगा। दोनों ओर के शूरवीर मत्त हाथी के समान झूमते फिरते थे। शंख, घड़ियाल, घंटे आदि की ध्वनि से आकाश-पाताल गूँज रहे थे। घोड़ो की हिनहिनाहट से कान में पड़ी बात भी सुनाई नहीं देती थी। धन-दौलत के लालच से भाई भाई के खून का प्यासा हो रहा था। चचा भतीजों के प्राण का ग्राहक बन गया। भीष्म वचनबद्ध होकर उन भतीजों के विरुद्ध लडने पर उतारू हुए, जिनके लिए उनके चित्त में गाढ़ा प्रेम था और जिन्हें वह उचित मार्ग पर समझते थे। द्रोण विचारते थे कि इस लड़ाई में उनके सारे शिष्य आपस में लड़ मरने पर उतारू हुए हैं। यद्यपि वे दुर्योधन की सेना में थे पर अन्तःकरण से वे युधिष्ठिर के सहायक थे। वे जानते थे कि दुर्योधन का पक्ष अन्याय और अधर्म पर है और युधिष्ठिर सचाई पर है।

पर इन सबमें धृतराष्ट्र अत्यन्त भयभीत था। उसका अन्तःकरण कहता था युधिष्ठिर सच्चा है, पर वह राजपाट का लोभ और बेटों के भय से लड़ाई को रोक रखने को शक्ति नहीं रखता था। उसे दिन-रात चैन न थी, उसे पहले ही आभास हो गया था कि इस लड़ाई में न तो बेटे बचेंगे और न भतीजे। सारा कुरुकुल नष्ट हो जाएगा और राजपाट, जिसके लिए ये लड रहे हैं, वह दूसरों की भोग्यभूमि होगा!

निदान बड़े सोच-विचार के पश्चात् उसने निश्चय किया कि लडाई से पहले युधिष्ठिर की धर्मप्रवृत्ति को अपील करें। उसने एक विद्वान् संजय नामक ब्राह्मण को दूत बनाकर युधिष्ठिर के दरबार में भेजा ताकि वह युधिष्ठिर को इस भयानक युद्ध से रोकने का उपदेश करे।

अतएव महाराज धृतराष्ट्र का भेजा हुआ दूत युधिष्ठिर के शिविर में आया।

युधिष्ठिर ने संजय का बड़ा आदर-सत्कार किया। जब युधिष्ठिर ने उससे आने का हेतु पूछा तो संजय बड़ी नम्रता से युधिष्ठिर को लड़ाई की बुराइयाँ सुनाने लगा और कहा कि केवल राजपाट के लिए लड़ना और अपने सम्बन्धियो का वध करना महापाप है। तुम्हें उचित है कि इस विचार को त्याग दो और यदि जान भी जाये, पर अपने भाइयों और सम्बन्धियों पर आक्रमण न करो। प्रथम तो इन दोनों पक्ष वालों का एक-दूसरे पर विजय पाना बड़ा कठिन है, फिर यदि तुम जीत भी गये तो इससे क्या सुख मिल सकता है। इसलिए ऐसे युद्ध से अपनी आत्मा को कलंकित मत करो और सन्धि कर लो

उत्तर में युधिष्ठिर ने जो कुछ कहा वह हमारी पुस्तक से अधिक संबंध नहीं रखता । यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि युधिष्ठिर ने संजय को अच्छी तरह से समझा दिया कि यद्यपि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने हमसे बड़ी अनीतियाँ की हैं और मेरे भाई उनसे बदला लेना चाहते हैं; किन्तु मै सन्धि करने पर राजी हूँ, यदि मुझे मेरी राजधानी इन्द्रप्रस्थ दे दी जाय ।

संजय तो अपने स्वामी की ओर से आसन्न युद्ध के हानि-लाभ पर तर्क-वितर्क करने आया था इसलिए उसने युक्ति से अधिक काम लिया और युधिष्ठिर को संसार के नाशवान् होने पर व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया । आजकल के विभिन्न मत-मतान्तरों की भाँति वह युधिष्ठिर को उपदेश देने लगा, "हे राजन् ! संसार में काम सारी बुराइयों की जड़ है । जो निष्काम है वही परमात्मा को प्राप्त हो सकते है । काम ही हमको सांसारिक बन्धन में फँसाता है और बार-बार जन्म-मरण की शृंखला से निकलने नहीं देता । ज्ञानवान् सांसारिक पदार्थों की परवाह नही करता और कर्मों के बन्धन से स्वतंत्र हो जाता है । तू ज्ञानवान होकर फिर क्यों ऐसे कर्म करता है जो निन्दनीय है । संसार के यावत् सुख-दु:ख क्षणिक हैं । जो पुरुष संसार के सुखो की इच्छा करता है वह उन सुखो के हेतु धर्म भी हार देता है । मेरी सम्मति में राजपाट के लिए लडाई करने से भिक्षा माँगकर पेट भरना अच्छा है, क्योंकि युद्ध में मनुष्य तरह-तरह के पाप करता है । इसलिए हे युधिष्ठिर ! तू इस काम से अपनी आत्मा को भ्रष्ट मत कर । तू वेदा का ज्ञाता है और तूने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन भी किया है । यज्ञ भी किये हैं । तुझे उचित नही कि इस निन्दनीय कार्य से अपने विमल यश पर बट्टा लगाये । हे राजन् ! इस पाप से तेरी सारी तपस्या और आत्मा की पवित्रता नष्ट हो जाएगी । लड़ाई धार्मिक भाव के विरुद्ध है । तू क्रोध मे आकर लड़ाई पर तत्पर हो गया है, परन्तु स्मरण रख, क्रोध सब पापों की जड है । प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह क्रोध से बचे, और अपनी इन्द्रियों को वश मे रखे । हे राजन ! अपने क्रोध को शान्त कर और अपनी आत्मा को उस महाहत्या से बचा । अपने पितामह, भाई, भतीजे, तथा इष्ट मित्रो के वध से तुझे क्या मिलेगा ? तेरी इस कार्रवाई से लाखों घर निर्वंश हो जायेंगे । घर-घर में रोना-पीटना मच जाएगा । लाखों स्त्रियाँ तेरा नाम लेकर रोयेंगी और तुझे कोसेंगी । इस विध्वंस के बाद यदि तुझे राजपाट मिल भी गया तो क्या वह सुखदायक होगा ? क्या इस राजपाट से तू मृत्यु और बुढ़ापे के पंजे से बच जाएगा, फिर क्यों पाप से अपने हाथ रंगता है । वे तेरे शत्रु हैं जो तुझे युद्ध करने की राय देते है । यदि तेरे मंत्रदाता इस सम्मति को नही पलटते तो तू इस सिद्धान्त को छोड़ और राजपाट छोड वन का रास्ता ले । यदि यह नहीं हो सकता तो और कुछ कर, पर लड़ाई के पास न जा ।''

इस विस्तृत वक्तृता के उत्तर में युधिष्ठिर ने संजय से कहा, 'हे संजय ! मुझे यह उपदेश देने से पहले तुझे चाहिए था कि तू धर्म और अधर्म के लक्षण वर्णन करता, जिसे सुनकर हम यह निश्चय कर सकते कि यह लड़ाई धर्म है या अधर्म । तू जानता है कि धर्म और अधर्म का निर्णय करना कितना कठिन है । प्राय: धर्म अधर्म प्रतीत होता है और अधर्म धर्म । इसी प्रकार आपत्ति के समय में भलाई और बुलाई में अर्थ-भेद पड जाता है । इसलिए प्रत्येक पुरुष

का कर्तव्य है कि अपने वर्ण तथा आश्रम के धर्म का पालन करे । तू यह भी जानता है कि आपत्ति काल का धर्म भिन्न होता है । मै तो दोनो लोकों के राज्य के लिए भी धर्म त्यागने पर राजी नहीं हूँ । मैं समझता हूँ कि मैं जो कुछ करने लगा हूँ वह धर्म के अनुकूल है । फिर भी कृष्ण हम सबमें पवित्र, विद्वान् और धर्मशास्त्र में निपुण हैं । कृष्ण से व्यवस्था ले लो कि इस समय क्या धर्म है । जो कुछ वह व्यवस्था देंगे वह मुझे स्वीकार्य होगी ।''

इस पर कृष्ण ने संजय से कहना आरम्भ किया—

'' हे संजय ! तू जानता है कि मैं इन दोनों पक्ष वालो का शुभचिन्तक हूँ । मैं नहीं चाहता कि कौरव और पाण्डव नष्ट हों । मैं इनकी भलाई चाहता हूँ । मै पूर्व से ही दोनों को सन्धि कर लेने का उपदेश देता आया हूँ । जहाँ तक मै देखता हूँ युधिष्टिर अन्तःकरण से सन्धि चाहता है । उसने अभी ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की, जिससे इसके विरुद्ध भाव प्रकट हो । परन्तु जब धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों के नेत्रों पर लोभ ने पट्टी बाँध रखी है तो मैं नहीं समझता कि यह युद्ध कैसे रुकेगा ?

'' धर्म और अधर्म का लक्षण तू भी भली भाँति जानता है, पुनः आश्चर्य है कि तू युधिष्टिर जैसे पूर्ण क्षत्रिय को ताना देता है । युधिष्ठिर अपने धर्म पर स्थिर है, और उसे शास्त्रानुसार अपने कुल की भलाई का चिन्तन करना है ।

'' ज्ञान और कर्म विषयक जो तुमने उपदेश किया है, वह ऐसा विषय है जिसके बारे में ब्राह्मणों की कभी एक सम्मति नहीं रही है । अनेकों की राय है कि परलोक की सिद्धि कर्मो से ही होती है । अन्य लोग कहते हैं कि मुक्ति केवल ज्ञान से मिलती है, और इसके लिए कर्मो का नाश करना ही जरूरी है । ब्राह्मण जानते है कि यद्यपि हमको खाने के पदार्थो का ज्ञान चाहे हो, पर भूख का नाश तब तक नहीं होता जब तक हम भोजन नहीं कर लेते । ज्ञान-काड की वह शाखा जो कर्मकाण्ड में सहायता देती है, वह अधिक फलदायक है, क्योंकि कर्म का फल प्रत्यक्ष है । प्यासा पानी पीता है और पानी पीने के कर्म से उसकी प्यास बुझ जाती है, इससे स्पष्ट है कि केवल ज्ञान से कर्म श्रेष्ठतर है । सृष्टि में कर्म ही प्रधान दीख पडता है । वायु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और पृथिवी सब कर्म करते हुए अपना-अपना धर्म-पालन कर रहे हैं । सारे आप्त पुरुषों, विद्वान् ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भी यही व्यवस्था है । फिर हे सजय ! यह सब कुछ जानकर भी क्यों धृतराष्ट्र के पुत्रों का पक्ष लेकर उनकी वकालत करने आये हो । तुम जानते हो कि युधिष्ठिर वेद का ज्ञाता है, उसने राजसूय यज्ञ किया है, घोडे और हाथी की सवारी करना और शस्त्र चलाना उसका काम है । अब तू ही बता, ऐसी दशा में वह कौन-सा उपाय है जिससे युधिष्टिर धर्म से पतित न हो । परन्तु तुझे इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि युधिष्ठिर राजपुत्र है । अब बता कि शास्त्र राजा के लिए क्या आज्ञा देते है । लड़ना या न लड़ना, उसका क्या धर्म है ?

'' शास्त्र में जो क्षत्रियों के धर्म लिखे है उनका विचार करके तुझे अपनी सम्मति देनी चाहिए । क्या क्षत्रिय का यह धर्म नहीं कि वह विद्या का प्रचार करे, धर्म की रक्षा करे, अपनी प्रजा का पालन करे ऐसे नियम बनाये और इस तरह प्रबन्ध करे जिसमें सब लोग वर्णाश्रम

(अपने-अपने धर्म) मे स्थिर रहें । क्या न्याय करना और अनीति और अत्याचार को दण्ड देना उसका धर्म नहीं है ? यदि कोई पुरुष छल से या अधर्म से दूसरों का धन छीने तो बताओ उसके साथ राजा क्या वर्ताव करे ? यदि ऐसी दशा में भी लड़ाई करना पाप है तो फिर ये शास्त्रादि किसलिए बनाए गए है ? शास्त्र कहता है कि अधर्मी, पापी और दस्यु को शस्त्र से दण्ड देना क्षत्रिय का धर्म है और इसी से क्षत्रिय को स्वर्ग की प्राप्ति होती है । इसलिए ऐसी अवस्था में लड़ाई करना कैसे पाप हो सकता है ? आपको देखना चाहिए कि धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों ने क्या-क्या किया । उन्होंने अधर्म से पाण्डवों का धन छीन लिया । याद रखो कि छिपकर चोरी करना या सामने चोरी करना दोनों ही समान पाप हैं । फिर बताओ दुर्योधन और चोर में क्या भेद रहा ? इसके अतिरिक्त दुर्योधन तथा उसके दुष्ट साथी द्रौपदी को नग्न घसीट कर दरबार मे ले गये और उसका अपमान किया । बड़े दुख की बात है कि उस समय दुर्योधन को किसी ने नही समझाया और न पूछा कि तुम यह क्या करते हो । संजय, तुम तो उस समय वहाँ थे, तुमने उस समय कर्ण को क्यो नहीं मना किया कि वह अर्जुन को ताना न दे । उस समय तो सारी सभा कायरो की तरह चुप रही और अब प्रत्येक पुरुष युधिष्ठिर को उपदेश देने आता है कि वह लड़ाई न करे ।

'' फिर भी मेरी यही इच्छा है कि बिना लड़ाई के न्याय हो जाये । मैं स्वयं तैयार हूँ कि कौरवों के पास जाऊँ और उन्हें समझाऊँ । यदि वह मेरे समझाने से पाण्डवों को उनका अधिकार दे दें तो मैं अपने आपको कृतार्थ समझूँगा । ''

बाईसवॉ अध्याय

कृष्णाचन्द्र का दौत्य कर्म

जब संजय विदा होकर चला गया तो महाराज कृष्ण ने धृतराष्ट्र के पास जाने का विचार प्रकट किया। श्रीकृष्ण जब चलने के लिए तैयार हुए तो युधिष्ठिर को बडी चिन्ता हुई। उसे यह विचार हुआ कि दुष्ट दुर्योधन कहीं कृष्ण को हानि न पहुँचाये। इसलिए उसने कृष्ण को बहुत समझाया कि वे वहाँ न जायें। यहाँ तक कहा कि आपके बिना मुझे चक्रवर्ती राज्य और स्वर्ग भी स्वीकार नहीं। परन्तु कृष्ण ने उनकी एक न मानी और युधिष्ठिर को कहा कि मेरा हस्तिनापुर जाना आवश्यक है, इसलिए कि यदि मुझे इस काम में सफलता नहीं मिली और दुर्योधन ने सन्धि के प्रस्ताव को न माना तो पीछे से कोई हमें दोष नहीं दे सकेगा कि हमने सन्धि नही की। जब युधिष्ठिर ने देखा कि कृष्ण अपने संकल्प में दृढ़ है, तो उसने उनको जाने की आज्ञा दी तथा अपनी ओर से पूरा अधिकार भी दिया कि जो शर्त आप स्वीकार कर आयेंगे वह मुझे सर्वथा स्वीकार होगी। कृष्ण ने प्रस्थान करने के पहले फिर युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश दिया ताकि युधिष्ठिर सन्धि की आशा में अपनी तैयारियों से असावधान न हो जाये और दुर्योधन को सहज ही में लड़ाई जीतने का अवसर मिले। उस उपदेश में कृष्ण ने युधिष्ठिर को बताया कि आजीवन ब्रह्मचारी रहना क्षत्रिय का धर्म नहीं। क्षत्रिय के लिए भिक्षा माँगना भी महापाप है। युद्ध मे प्राण देने से क्षत्रिय सीधा स्वर्ग जाता है। क्षत्रिय के लिए कायर होना पाप है। मुझे विश्वास है कि दुर्योधन कभी सन्धि के लिए राजी नही होगा। मैं दुर्योधन को अच्छी तरह जानता हूँ। देखो! उसने आप और आपके भाइयों के साथ कैसा बर्ताव किया है। मैं प्रत्येक प्रकार से दुर्योधन और उसके सहायकों को समझाने का यत्न करूँगा, परन्तु मेरी आत्मा कहती है कि वह एक भी बात नहीं मानेगा। लड़ाई अवश्य करनी ही पड़ेगी। इसलिए हे राजन् तुझे चाहिए कि अच्छी तरह से लड़ाई की तैयारियॉ करता रह और अपने धर्म से विमुख न हो।

कृष्ण के इस कथन को सुनकर भीम और अर्जुन के चित्त मे यह भय उत्पन्न हुआ कि कहीं कृष्ण अपने कठोर वचन से काम न बिगाड़ दें। तब तो सन्धि असंभव हो जायगी। इसलिए दोनों ने बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर कृष्ण से विनयपूर्वक कहा कि जहॉ तक सभव हो, आप दुर्योधन के साथ नम्रता का बर्ताव करें, क्योंकि हम कदापि लड़ाई करना नही चाहते। यदि दुर्योधन कुछ थोड़े ग्राम भी हमको दे दे तो हम उसी पर संतोष करके दिन काट लेगे। इस पर कृष्ण ने उत्तर दिया, "ऐसा जान पड़ता है कि तुम उससे डर गये हो। तुम्हारी इस कायरता पर मुझे बड़ा दुख होता है" भीम को कृष्ण का यह कटाक्ष तीर के समान चुभा

परन्तु वह सँभलकर विनयपूर्वक अपना यथार्थ आशय समझाने लगा, "मैं किसी तरह भी दुर्योधन या उसके योद्धाओं से भय नहीं खाता। मुझे यदि विचार है तो केवल इतना ही है कि इस आपस की लड़ाई में सारे भारत की सन्तान नष्ट न हो जावे।" इस पर कृष्ण ने भीम को सम्बोधित किया और कहा, " मैं तुमको ताना नहीं देता। मैं तो तुमको याद दिलाता हूँ कि युद्ध से डरना क्षत्रिय का धर्म नहीं। मै नहीं चाहता कि कायरता के कारण तुम अपने धर्म से विमुख हो बैठो। तुम धीरज धरो। मनुष्य से जितने यत्न हो सकते है उतना यत्न मैं सन्धि कराने के लिए करूँगा। परन्तु तुम समझ रखो कि मनुष्य की सारी युक्तियाँ सदा कृतकार्य नही होती। कुछ अवसरों पर ऐसा होता है कि मनुष्य भले के लिए काम करता है परन्तु उसका फल बुरा निकल आता है।

" इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि अपनी मनोकामना की सिद्धि के लिए जो कुछ हो सकता है उसे वह करे। साथ ही उसका यह भी धर्म है कि वह केवल अपनी युक्तियो पर ही निर्भर न रहे, वरन् जो कुछ करता है उसे भगवान् के अधीन समझकर करे ताकि परमात्मा उसकी युक्तियों में उसे सफल करे। कृषिकार अपने खेत में हल चलाता है, बीज बोता है, उसे पानी से खीचता है, परन्तु जल बरसाना उसके कर्म से बाहर है। यह कर्म परमेश्वर के अधीन है। इसलिए जो काम हम करें उसे परमेश्वर के अधीन होकर करें, साथ ही परमात्मा पर विश्वास रखे कि यदि उसकी कृपा होगी तो वह हमारी मनोकामना को अवश्य पूर्ण करेगा।"

अब कृष्ण युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन से विदा होकर नकुल और सहदेव से मिलने आये। नकुल ने तो यही कहा कि जैसी आपकी इच्छा हो वैसा ही कीजिएगा, परन्तु युवक सहदेव ने हाथ जोड़कर कहा, "मेरी आन्तरिक इच्छा तो यही है कि हमारे हाथों दुर्योधन का नाश हो। आप ऐसी कार्रवाई करें जिससे लड़ाई अवश्य हो।" सहदेव का यह कहना था कि सभा में चारों ओर से 'युद्ध-युद्ध' की ध्वनि गूँज उठी। सात्यकि ने कहा कि हमको चैन तब ही आएगा जब हम दुर्योधन का सिर अपने हाथ से कुचलेंगे। इतने में द्रौपदी भी आगे बढ़ी और अपने केश हाथ में लेकर कहने लगी, "हे कृष्ण! तनिक इधर भी देखो। दुर्योधन ने मेरे केश पकड़कर मुझे सभा के बीच अपमानित किया था। उस समय अर्जुन और भीम की वीरता भी कुछ काम नहीं आई, न किसी ने यह विचार किया कि यह महाराज द्रुपद की पुत्री है, महाराज पाण्डु की बहू, पाण्डवों की पटरानी, धृष्टद्युम्न की बहन और कृष्ण की मित्र है। क्या आप नहीं जानते कि अपराधी का अपराध क्षमा करना महापाप है। जो पुरुष दण्डनीय है उसके दण्ड को क्षमा करना स्वयं एक अपराध है। यदि पापियों की इस संसार में वृद्धि हुई और उनको राजा-महाराजा दण्ड देने से मुख मोड़ने लगे तो इसका परिणाम बड़ा भयानक होगा। हे कृष्ण, क्या दुर्योधन पर दया करना उचित है? मै आपसे विनयपूर्वक कहती हूँ, यदि आपको मेरी मर्यादा का तनिक भी विचार है तो आप धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ नम्र न हों। उन्हें दण्ड देना ही धर्म है। भीम और अर्जुन ने यदि आज कायरता पर कमर बाँध ली है और चुप बैठे है तो मेरा भाई और पिता उनसे बदला लेने को तैयार हैं।" इतना कहकर द्रौपदी रोने

लगी मानो उसके नेत्रों से मोतियों की धारा बह निकली । द्रौपदी की यह दशा देखकर सारी सेना मे जोश आ गया । चारों ओर तलवारें म्यान से बाहर निकल आईं । अन्तत: कृष्ण ने द्रौपदी को संबोधन कर कहा, "हे कृष्णे, तू धीरज धर । यदि दुर्योधन ने मेरी बात न मानी तो वह पछताएगा । उसकी रानियाँ विलाप करेंगी ! तेरे पति विजय पावेंगे और तुझे फिर राज-सिंहासन पर बिठायेंगे ।" इतना कहकर कृष्ण वहाँ से विदा हुए । वे जानते थे कि दुर्योधन दुष्ट है, इसलिए उन्होंने अपनी रक्षा के लिए दो हजार सिपाही साथ लिए और हस्तिनापुर की ओर चले ।

धृतराष्ट्र को जब समाचार मिला कि कृष्ण आ रहे है तो उसने उनके आराम का पूरा प्रबन्ध कर दिया और राजधानी मे स्वागत की बड़ी तैयारियाँ कराने लगा, परन्तु कृष्ण ने धृतराष्ट्र के प्रबन्ध से कुछ फायदा नहीं उठाया । वे हस्तिनापुर पहुँच गये । यहाँ कौरवों की ओर से उनका अच्छा स्वागत किया गया । जब वे महल मे आए तब सब छोटे-बड़ों ने उनका पूरा सत्कार किया ।

तेईसवाँ अध्याय

कृष्ण का हस्तिनापुर आगमन

कृष्ण धृतराष्ट्र, भीष्म और द्रोणादि से भेंट करके विदुर के स्थान पर ठहरे । युधिष्ठिर की माता कुन्ती भी विदुर के साथ रहती थी । जब कृष्ण उसके घर पहुँचे तो उसने बड़े प्रेम से उन्हें गले लगाया और आदर-सत्कार से पास बिठाकर रोने लगी । किसकी लेखनी में शक्ति है जो माता के प्रेम का वर्णन लिख सके ! किसमें बल है जो अपने पुत्रों के लिए झेले गये माता के दुख को लेख द्वारा प्रकट कर सके ! कृष्ण और कुन्ती के मिलाप का पूर्ण वर्णन पाठकों के सामने उपस्थित करना हमारी लेखनी से बाहर है । याद रखना चाहिए कि कुन्ती कृष्ण की फूफी थी । 14 वर्ष से कुन्ती ने अपने प्यारे पुत्रों का मुख नहीं देखा था । 14 वर्ष हुए जब युधिष्ठिर की कमजोरी से अपने राजपाट से अलग कर उन्हें देश से निकाल दिया गया था । 14 वर्ष हुए जब पाण्डवों ने अपनी बिलखती माता को महलों में छोड़ा था । 14 वर्ष से बेचारी माता अपने प्यारे बच्चो की बाट जोह रही थी और मन मारे बैठी थी । कृष्ण के मिलने से माता की सारी आशाएँ लहलहा उठीं और साथ ही कृष्ण के आगमन ने मानों उसके घाव को ताजा बना दिया । कृष्ण की छवि मे उसने अपने प्यारे पुत्रों की छाया देख ली । कुन्ती ने कृष्ण पर प्रश्नो की बौछार आरम्भ कर दी । एक-एक करके प्रश्न पूछती जाती थी और साथ ही आँखों से आँसुओं की धारा जारी थी । वह मुख से विलाप कर रही थी और कभी अपने वैधव्य पर रोती थी, कभी अपने पुत्रों की बाल्यावस्था को रो-रोकर याद करने लगती थी । युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा, भीम की वीरता और अर्जुन की धनुर्विद्या में कुशलता, ये सब इस समय उसके नेत्रों के सम्मुख घूम रहे थे । वह हैरान थी कि इन 14 वर्षों की क्या-क्या बातें पूछे । सारांश यह कि वह अपने दुख की रामकहानी सुना रही थी और दूसरे को बोलने का अवकाश भी नहीं दे रही थी । कृष्ण भी चित्रवत् खड़े सुन रहे थे । निदान कुन्ती ने अपना विलाप कुछ कम किया और फिर अपने पुत्रों का कुशल-मंगल पूछने लगी । कृष्ण के मुख से उनका हाल सुनकर उसके कलेजे में फिर चोट-सी लगी और वह रोने तथा विलाप करने लगी । अन्ततः जब भीतर का उबाल अच्छी तरह से निकल चुका तो कृष्ण से कहने लगी, " हे कृष्ण ! मेरी ओर से तो मेरे सब पुत्र मर गये और उनकी ओर से मैं मर चुकी । युधिष्ठिर को आप यह संदेश दीजिए 'कि तेरा यश दिन-ब-दिन बढ़े तू सदा भलाई ही करता रहे जिससे तेरी धार्मिक मर्यादा की

समझेगा । जिस दिन तुमने कोई निन्दनीय कार्य किया उसी दिन मुझसे तुम्हारा नाता टूट जायेगा । हे कृष्ण ! आप माद्री के पुत्रों से भी कहे, 'यथार्थ सुख वह है, जो निज बाहुबल से उपार्जित किया जाये ।' क्षत्रिय पुत्र के लिए वह वस्तु सुखदायक नहीं हो सकती जो उसने अपने बाहुबल से प्राप्त नही की है । अर्जुन से मेरा अन्तिम संदेश यह कहना कि उसे वही करना धर्म है जो द्रौपदी कहे । '' द्रौपदी का नाम लेते ही कुन्ती के नेत्रों से फिर आँसू निकल पडे । उसके अपमान का दृश्य उसके सामने घूमने लगा । इसके बाद कृष्ण कुन्ती को सम्बोधन करने लगे । उन्होंने अभागे पाण्डवो का नमस्कार माता के पवित्र चरणों में निवेदन किया । उनके प्रेम-पूरित संदेश को माता के कर्ण गोचर किया । पुत्रों के धर्म भाव, उनकी वीरता, सत्यता तथा दृढता की अनेक कहानियाँ सुनाई । धर्म, ज्ञान और दर्शन के उपदेशों से उसके संतप्त हृदय को ठंडा किया । सारांश यह कि कृष्ण ने अपनी वाणी व चतुराई से उसके दुख को दूर कर दिया । उसके भीतर की बुझी हुई आशायें पुनः लहलहा उठीं । वीर क्षात्र बाला का सारा क्रोध कृष्ण की मधुर वाणी के आगे मोम की तरह पिघल गया । वह अन्त में कहने लगी, 'हे कृष्ण ! जो आपको भला मालूम दे वही करें । मुझे आपकी बुद्धिमत्ता और चातुर्य पर पूरा विश्वास है । आप वही करेंगे जो मुझे और मेरे पुत्रों को हितकर होगा ।''

सारांश यह कि कुन्ती को सम्बोधन करके और फिर उसकी आज्ञा लेकर कृष्णचन्द्र दुर्योधन के महल में गये । दुर्योधन और उसके सभासदों ने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया । फिर कृष्ण से भोजन की प्रार्थना की । जब कृष्ण ने उसे अस्वीकार किया तो दुर्योधन ने पूछा, 'महाराज ! आप मेरा अन्न-जल क्यो नहीं ग्रहण करते ? मैंने अनेक प्रकार से आपकी सेवा करनी चाही और अच्छे-अच्छे भोजन तैयार कराये, परन्तु आप स्वीकार नहीं करते । आप मेरे प्यारे संबंधी है और दोनो पक्ष वालों के मित्र हैं, इसलिए आपको तो दोनों पक्ष समान है ।'' कृष्ण ने उत्तर में कहा, ''हे दुर्योधन, दूतों के लिए यही आज्ञा है कि जब तक उनका दूतत्व सफल न हो तब तक राजा की पूजा स्वीकार न करें । इसलिए जब तक मैं अपने कार्य म सफल नही होऊँगा तब तक आपके महल में अन्न-जल ग्रहण नहीं कर सकता । हाँ, सफलता होने पर मै हर तरह से राजी हूँ ।'' इस पर दुर्योधन बोला, ''महाराज ! आपको ऐसा बर्ताव करना उचित नहीं । हम आपका पूजन इसलिए करते है, कि आप हमारे संबंधी हैं । आपका काम बने या न बने, हमारा अन्न स्वीकार कीजिए, जिससे हमारे चित्त मे जो सेवा का भाव है वह बना रहे । आपसे हमें कोई विरोध नहीं, फिर आप क्यो हमारी सेवा स्वीकार नही करते ?'' कृष्ण ने जवाब दिया, ''मेरा यह सिद्धान्त नहीं कि किसी को प्रसन्न रखने के अभिप्राय से या क्रोध से अथवा किसी लाभ के हेतु मैं धर्म-मार्ग छोड़ दूँ । मनुष्य किसी के घर का भोजन तब ही खा सकता है जब उसके हृदय में खिलाने वाले के प्रति प्रेम हो अथवा उस पर आपत्तिकाल हो । अब सत्य तो यह है कि मेरे हृदय में न तो तेरे लिए तनिक भी प्रेम है और न मुझ पर ही आपत्ति आई है ।''[1]

---

1 सम्प्रीति भोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः ।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्   उद्योग पर्व 91/25

चौबीसवाँ अध्याय

विदुर और कृष्ण का वार्तालाप

इतिहास लेखक[1] लिखता है कि रात का भोजन करने के पश्चात् जब विदुर और कृष्ण इकट्ठे हुए तो विदुर ने कृष्ण से कहा, "हे कृष्ण ! आप व्यर्थ में यहाँ आये । मुझे पूरा विश्वास है कि आपके उपदेश से कुछ काम नहीं निकलेगा । दुर्योधन ने एक बड़ी सेना इकट्ठी कर ली है । जो क्षत्रिय आपके शत्रु हैं, वे सब उसके सहायक हो रहे हैं । उसे अपने सेनाबल पर इतना भरोसा है कि वह अभी से अपने को विजयी समझने लगा है । धन और राजपाट की इच्छा ने दुर्योधन की आँखों पर पट्टी बाँध रखी है । उसके सभासद भी उसी के समान कामी और क्रोधी हो गये हैं । मुझे दुःख है कि आपने व्यर्थ ही इन दुष्टों के पास आने का कष्ट उठाया । पाण्डवों का सहायक समझकर ये सब आपके लहू के प्यासे हो रहे हैं । मुझे भय है कि वे आपको कुछ हानि न पहुँचाएँ । इसलिए मेरी सम्मति है कि आप इस काम को त्याग दे और इनकी सभा में न जायें, क्योंकि मुझे आपके कार्य की सफलता की तनिक भी आशा नही है । जिस सभा में अच्छी या बुरी बात का अन्तर न विचारा जाए वहाँ बातचीत ही नही करनी चाहिए । जिस प्रकार चाण्डालों के सामने ब्राह्मणों के वचन का सत्कार नहीं होता उसी तरह दुर्योधन की सभा मे आपके कथन या आशय का सम्मान नही होगा । अतः ऐसे व्यर्थ काम से दूर रहना ही अच्छा है ।"

इसके उत्तर में कृष्ण बोले, " हे विदुर ! मैं इस उपदेश के लिए आपका बहुत ही अनुगृहीत हूँ । धर्मात्मा और भद्रपुरुष ऐसी ही सलाह दिया करते हैं । परन्तु मुझे खेद है कि मै इसे स्वीकार नहीं कर सकता । मै दृढ़-संकल्प करके आया हूँ कि कम-से-कम एक बार अवश्य इस बात का यत्न करूँ कि ये लोग वृथा सृष्टि के प्राण नष्ट न करें ।

" इस समय मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि देश को और विशेषतः क्षत्रिय वंश को इस विनाश से बचाने के लिए एक बार फिर कोशिश करूँ । यदि इसमें मैं सफलीभूत हुआ तो मैं समझूँगा कि मैंने महान् धर्म का काम किया । नहीं तो कम-से-कम मुझे इतना हार्दिक संतोष तो अवश्य रहेगा कि मैंने अपनी ओर से यत्न करने में कुछ कमी नहीं की । प्रत्येक सच्चे मित्र का धर्म है कि अपने मित्र को बुरे काम से बचाये । कौरव और पाण्डव मेरे संबंधी हैं, दोनों के साथ मुझे प्रेम है । इस समय मैं देखता हूँ कि दोनों दल एक-दूसरे को नष्ट करने के लिए तत्पर हैं । इसलिए मेरा धर्म है कि इस उत्पात को मिटाने का यत्न करूँ । चाहे कोई माने या

---

1 [illegible]

राजा धृतराष्ट्र ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया, "हे केशव ! आपने जो कुछ कहा वह सत्य है । स्वर्गलोक जाने का यही मार्ग है । धर्ममर्यादा यही है जो आपने बतलाई, परन्तु क्या आप जानते नहीं कि मेरे पुत्र मेरे वश मे नहीं हैं । दुर्योधन मेरी आज्ञानुसार काम नही करता, न वह अपनी माता गान्धारी का कहना मानता है । उस पर किसी के सदुपदेश का भी प्रभाव नही पड़ता । इसलिए हे कृष्ण ! आप ही कृपा करके उसे समझाये जिससे वह इस पाप कर्म से बचे ।"

तब कृष्ण ने दुर्योधन की ओर फिरकर कहना आरंभ किया । "हे दुर्योधन ! ऐसे उच्च वंश में तुमने जन्म पाया है । उचित तो यह है कि तू कोई ऐसा काम न करे जिससे तुझ पर या तेरे पूर्वजो पर कलंक लगे । विद्या पाकर तुझे यह उचित नहीं कि तू अनपढ़ लोगों के समान कार्य करे । इस समय तेरी इच्छा जिस ओर है वह अधर्म और पाप का मार्ग है । जो काम तूने करना विचारा है, वह काम धर्मात्मा और भद्र पुरुष नहीं करते । देख, तेरे इस कार्य से कितने जीव नष्ट होंगे । तुझे वही करना उचित है, जिससे तेरी, तेरे सम्बन्धियों और मित्रों की भलाई हो । पाण्डुपुत्र बड़े धर्मात्मा और सदाचारी, विद्वान् और वीर हैं । तुम्हारे पिता, पितामह, गुरु और दूसरे ज्येष्ठ पुरुषों की इच्छा है कि पाण्डुपुत्रों से सन्धि कर ली जाये । इसलिए हे मित्र ! तेरा कल्याण इसी में है कि तू उनसे मेल कर ले । ऐसे उच्च वंश मे जन्म लेकर उचित है कि तू क्रोध से काम न करे । जो पुरुष अपने मित्रों के सदुपदेश को नहीं मानता उसका भला कभी नही होता और अन्त में उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है । तेरे लिए भी उचित है कि तू अपने पूज्य पिता की आज्ञा का उल्लंघन न कर, नहीं तो याद रख तुझे अन्त में दुःख पहुँचेगा । पाण्डवों से मित्रता रखने में तेरा प्रत्येक प्रकार से कल्याण है । देख ! तूने उन्हे कितनी बार सताया, पर उन्होंने तुझ पर कभी हाथ नहीं उठाया, और कभी तुझसे बदला लेने की इच्छा नहीं की । नहीं तो तू जानता है कि वीरता और धनुर्विद्या में अकेला अर्जुन अपनी बराबरी नही रखता । तेरी सेना में कोई उसका सामना करने वाला नहीं है । राजकुमार ! तू अब अपने भाई-बन्धु और इष्ट मित्रों पर दया कर । तुझे अपनी प्रजा पर भी दया करनी चाहिए, नहीं तो सब इस युद्ध में नष्ट हो जाएँगे और लोग यही कहेंगे कि दुर्योधन ने खुद अपने कुल का नाश कर दिया । पाण्डुपुत्र इस पर राजी हैं कि धृतराष्ट्र महाराजाधिराज माने जायें और तुम्हें युवराज की पदवी दी जाये । पर तुझे उनका आधा राज उन्हें दे देना चाहिए । इस अवसर को तू दुर्लभ समझ और पाण्डुपुत्रों से मेल करके सुख और सुयश को प्राप्त हो ।"

भीष्म, द्रोण और विदुर ने भी अनेक प्रकार से दुर्योधन को सन्धि कर लेने की सलाह दी पर दुर्योधन ने एक की न सुनी और बोला, " हे महाराज ! मैंने आपके वचन सुने । आपको उचित नही था कि आप बिना विचारे मुझसे यों बातचीत करते । मैं नहीं समझता कि आप सब क्यों मुझे इस विषय में दोषी ठहराते है और पाण्डवों की सब बातों की प्रशंसा करते हैं । वास्तव में आपके सम्मुख, विदुर, पिताजी, गुरुजी और दादाजी सबके सामने मै ही दोषी हूँ, पर मुझे अपने मे कुछ दोष नहीं दिखाई देता । मैने कोई अपराध नहीं किया । युधिष्ठिर ने अपनी इच्छा से द्यूतक्रीड़ा की और दाव में अपना सारा राजपाट हार गए । फिर भी मैंने शकुनि से कहकर

उनका सारा राजपाट लौटा दिया । पर उन्होंने फिर दाव रखा और अंत में देश-त्याग का प्रण किया । मैंने किसी प्रकार उनके साथ कुछ छल नहीं किया । उन्होंने हमारे पारिवारिक शत्रुओं की सहायता की और उनकी सहायता से हमारे देश पर धावा करने और हमको लूटने को तैयार हुए ।

"भय से तो मै इन्द्र के सामने भी सर झुकाने को तैयार नहीं । मैं क्षत्रिय हूँ । मेरे पास भय नहीं फटक सकता । यदि मैं लड़ाई में मारा गया तो सीधा स्वर्ग को जाऊँगा । क्षत्रिय का महान् काम यही है कि युद्धक्षेत्र में लड़ता हुआ अपने प्राण दे दे । लड़ाई में शत्रु के सामने सिर नीचा किये बिना यदि हम वीरता से लड़ते जायें तो इससे अच्छा और क्या हो सकता है ? मेरी बाल्यावस्था में मेरे पिता ने अन्याय से उन्हें आधा भाग दे दिया था । मै किसी तरह उसे स्वीकार नहीं कर सकता । जब तक मेरा श्वास चल रहा है तब तक मैं सुई की नोक जितनी भूमि भी उन्हें नहीं प्रदान कर सकता ।"[1]

दुर्योधन की ये बातें सुनकर कृष्णचन्द्र ने विराट रूप धारण किया और मारे क्रोध के आँख लाल करके कहने लगे, "हे दुर्योधन ! क्या सचमुच तू बाणों की शय्या पर सोना चाहता है ? अच्छा तेरी इच्छा पूर्ण हो और शीघ्र पूर्ण हो । हे मूर्ख ! क्या तू समझता है, कि तूने पाण्डवों के साथ कोई अन्याय नही किया है ? क्या ये सारे राजा-महाराजा जो यहाँ वर्तमान है, यह कह सकते है कि तेरा यह कथन सत्य है ? तूने पाण्डवो को हानि पहुँचाने और उनको मारने के लिए क्या कुछ नहीं किया ?" इस पर उन्होंने दुर्योधन की एक-एक करके सारी अनीतियाँ सुनाईं और फिर कहने लगे, "हे पापी ! तू नहीं चाहता कि पाण्डवों को उनका पैतृक भाग दिया जाये यद्यपि वे विनयपूर्वक केवल अपना भाग माँग रहे है । यह याद रख कि तुझे उनका भाग तो देना ही पड़ेगा और तू फिर पश्चात्ताप करेगा । तुझे मैंने समझाया, तुझे धृतराष्ट्र ने समझाया, भीष्म ने समझाया, विदुर ने समझाया, द्रोण ने समझाया, पर तुझ पर किसी के समझाने का प्रभाव न हुआ । सत्य है, जब बुरे दिन आते हैं तो बुद्धि विपरीत हो जाती है और मनुष्य अभिमान से पूर्ण अपने इष्ट मित्रों के उपदेश को तुच्छ समझने लगता है ।"

कृष्ण का यह कथन सुनकर सारे दरबार में सन्नाटा छा गया । निदान दुःशासन बोला 'हे दुर्योधन, यदि तू खुद पाण्डवों से सन्धि नहीं करेगा तो राजा (धृतराष्ट्र) तेरे हाथ-पैर बाँधकर तुझको, मुझको और कर्ण को पाण्डवों के हवाले कर देंगे, फिर तू क्या कर सकता है ?'

यह सुनकर दुर्योधन पहले तो बड़ा असमजस में पड़ा । फिर सर्प की तरह फुंकारता हुआ उठकर दरबार से चल दिया । उसके साथ ही उसके भाई-बन्धु और इष्टमित्र भी चलते बने । अब कृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहना आरम्भ किया, 'हे राजन् ! अब उचित है कि आप अपने इस दुराचारी पुत्र को बन्दी कर ले । बुद्धिमानी तो इसी मे है कि कुल की भलाई के लिए एक पुरुष की परवाह न की जाये । अन्यथा यदि कुल के अहित से देश या जाति का हित हो तो कुल की परवाह नहीं करनी चाहिए और आत्मा के उपकार के लिए समस्त संसार की परवाह नहीं की जाती । इसलिए हे राजन् ! दुर्योधन को बन्दी करके आप पाण्डवो से सन्धि कर ले ।

1 सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव

धृतराष्ट्र में इतनी सामर्थ्य कहाँ थी कि वह कृष्ण के इस कथन पर अमल करता । उसने अपनी रानी गान्धारी को बुलाकर उससे कहा कि वह दुर्योधन को समझाये ।

गान्धारी ने पहले तो राजा धृतराष्ट्र को बहुत कुछ धिक्कारा और कहने लगी कि इस सारे उपद्रव के उत्तरदाता तो आप ही हैं । आप ही ने दुर्योधन को इतना सिर चढ़ा रखा था । अब वह एक की भी नहीं सुनता । अन्त में दुर्योधन को अपने समीप बुलवाया और उसे इस प्रकार समझाने लगी, "हे पुत्र ! तुझे अपने पिता, पितामह, गुरु और बड़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, यही तेरा परम धर्म है । मेरी भी उत्कट इच्छा है कि आपस में सन्धि हो जाये । यदि तू हम सबकी इच्छा पूर्ण करे तो हम सब तुझसे बड़े प्रसन्न होंगे । अकेला कोई पुरुष भी राज्य नहीं कर सकता, और विशेषत: वह पुरुष जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में न हो, कभी अधिक काल तक देश का शासन नहीं कर सकता । अनुशासन वही पुरुष कर सकता है जो अपनी इन्द्रियों को अपने वशीभूत रख बुद्धिमानी से बर्ताव करे । कामी या क्रोधी राज्य के उपयुक्त नही होता, इसलिए पहले अपनी इन्द्रियों पर अधिकार पाना चाहिए ! फिर संसार का राज्य मिल सकता है । मनुष्य पर अनुशासन करना बड़ा कठिन है । संभव है कि कभी कोई दुष्टात्मा शक्तिमान हो जाये, और उसे राज्य भी मिल जाये, पर उससे उसका निर्वाह नहीं हो सकता । जो प्रतापी राजा बनना चाहता हो उसका प्रथम धर्म है कि वह अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन करे । इससे बुद्धि की वृद्धि होती है जैसे ईंधन से आग की । स्वाधीन इन्द्रियाँ स्वाधीन घोडों के तुल्य हैं जो अपने सवार को कभी-न-कभी गिरा देता है और घायल करता है । जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन किये बिना अपने मित्रों में श्रेष्ठता पाने का यत्न करता है उसका यत्न वृथा जाता है । अपने मित्रों में सम्मान पाए बिना जो अपने शत्रु पर विजय पाने की इच्छा रखता है उसकी इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती । अत: पहला यत्न यह होना चाहिए कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर प्रभुत्व प्राप्त करे, क्योंकि ऐसे ही पुरुष को सदा सुख प्राप्त होता है । काम और क्रोध को बुद्धिमानी से वश में करना चाहिए । जिस पुरुष ने यावत् सांसारिक इच्छाओं का परित्याग कर दिया है पर काम और क्रोध उसके शरीर में बने हैं वह कभी स्वर्ग प्राप्त नही कर सकता । वही क्षत्रिय चक्रवर्ती राज्य को प्राप्त कर सकता है, जिसने काम, क्रोध, लोभ और अभिमान को जीत लिया है ।"

इस प्रकार उपदेश करते हुए गान्धारी ने दुर्योधन को सब ऊँचा-नीचा बताया । कभी उसको अर्जुन और कृष्ण की वीरता का भय दिखाया और कभी भीष्म, धृतराष्ट्र और द्रोणादि के अप्रसन्न हो जाने का भय दिखाया । सारांश यह कि प्रत्येक प्रकार से उसे समझाया, पर उसने कुछ न माना । अन्त में वह उठ खडा हुआ और दरबार से चला गया ।

पच्चीसवाँ अध्याय

कृष्ण के दूतत्व का अन्त

दरबार से बाहर जाकर दुर्योधन ने अपने भाई-बन्धुओं से राय मिलाई और कृष्ण को कैद करने की ठानी, पर यह बात पूरी नहीं होने पाई थी कि इसकी सूचना कृष्ण के साथी सात्यकि को मिल गई । उसने एक ओर तो अपनी सेना को तैयार होने की आज्ञा दी और दूसरी ओर कृष्ण को यह खबर सुना दी । फिर उनकी आज्ञा से धृतराष्ट्र को भी सूचित किया गया । सारा दरबार यह बात सुनकर दंग रह गया, क्योंकि प्राचीन काल में दूत को कैद करना महापाप समझा जाता था । इसीलिए किसी को इसका विचार भी नही था कि दुर्योधन ऐसी नीचता पर कमर बाँध लेगा । धृतराष्ट्र लज्जा और क्रोध से काँपने लगा । उसने दुर्योधन को बुलाकर बहुत धिक्कारा । कृष्ण दरबार से विदा होकर कुन्ती के पास आये और उसको सारा वृत्तान्त कह सुनाया तथा पूछने लगा कि अब क्या करना चाहिए । कुन्ती ने कृष्ण के द्वारा अपने पुत्रों को सदेश कहला भेजा । सर्वप्रथम युधिष्ठिर को संदेश देते हुए कहा, " पुत्र ! तेरा यश दिन-दिन घट रहा है क्योंकि तू अहंकार में फँसा हुआ उस पुरुष के समान है जो यथार्थ अर्थ समझे बिना वेदो के शब्दों को रट लेता है इसलिए विद्वान् नही कहलाता । तू धर्म के एक पक्ष को ही देख रहा है । तू बिलकुल भूल गया कि परमात्मा ने उस वर्ण के लिए किस धर्म का उपदेश किया है जिसमें तूने जन्म लिया है । क्षत्रिय इसीलिए उत्पन्न होता है कि वह केवल अपने बाहुबल पर भरोसा रखता हुआ प्रजा की रक्षा करे । सुरक्षित प्रजा के पुण्य कर्मों के फल का छठा भाग राजा के लेखे में गिना जाता है । राजा को अपना धर्म पालन करने से देवता पद मिलता है और पाप से वह नरकगामी होता है । धर्मानुसार चारों वर्णों का न्याय करना तथा प्रत्येक अपराधी को दण्ड देना राजा का महान् कर्तव्य है । इससे उसको मोक्ष मिलता है ।

" जिस काल में राजा, प्रजा से नियम का अच्छी तरह पालन कराता है उस समय को कृतयुग कहते हैं । ऐसे राज्य को महान् सुख की प्राप्ति होती है । याद रखना चाहिए कि समय राजा के अधीन होता है ।[1] राजा समय के अधीन नहीं होता । जिस राजा के समय मे त्रेता युग हुआ उसको भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है । पर वह स्वर्ग को बहुत अच्छी तरह नहीं भोग सकता । इसी तरह द्वापर युग का राजा इससे भी कम, और कलियुग लाने वाला राजा तो पाप मे डूबा हुआ दुख भोगता है और बहुत काल के लिए नरक को जाता है । सत्य यह है कि राजा के पापों का उसकी प्रजा पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है, और ऐसे ही प्रजा के पापो का

---

1 राजा कालस्य

फल राजा को भी भोगना पड़ता है ।

" इसलिए हे राजपुत्र ! तुझको उचित है कि तू अपनी मर्यादानुसार व्यवहार कर । जो आचरण तुमने ग्रहण किया है वह राजर्षियों के योग्य नहीं है । अनुचित दया की गिनती निर्बलता में होती है । तेरे पिता या मैंने कभी तेरे लिए ऐसी बुद्धि की आशा नहीं की । मैं तो सदा तेरे लिए यज्ञ, दान और पुरुषार्थ की परमेश्वर से प्रार्थना करती रही हूँ ।

" मैं सदा परमात्मा से यही वन्दना करती आई हूँ कि वह तेरे आत्मा को महान् बनावे और तुझे वीरता और पुरुषार्थ प्रदान करे ।

" देवता जब प्रसन्न होते है तो आयुष, धन और संतान की वृद्धि करते हैं । माता-पिता की सदा यही इच्छा होती है कि उनकी संतान विद्वान् हो, दानी हो, और प्रजापालक हो । इसलिए तेरा कर्तव्य है कि जिस वर्ण में तेरा जन्म हुआ है उसके धर्म का पालन कर । हे युधिष्ठिर, दान लेना ब्राह्मण का काम है तेरा काम नहीं । तू क्षत्रिय है । तेरा धर्म है कि तू अपने बाहुबल से विपत्ति काल में दूसरों की सहायता करे । इसलिए अब विलम्ब क्यों करता है, क्यों अपने बाहुबल से अपना राजपाट नही लौटा लेता । कैसे दुख की बात है कि तुझे जन्म देकर भी मै दूसरों का दिया हुआ अन्न खाऊँ । युधिष्ठिर ! तू क्यो अपने पूर्वजों के यश और कीर्ति में बट्टा लगाता है । उठ ! वीरों की तरह युद्ध कर और धर्म-मर्यादा को छोड़कर भाइयों सहित पाप का भागी न बन । " इसी तरह के संदेश कुन्ती ने भीम और अर्जुन के लिए भी दिये और कृष्ण को प्यार देकर विदा किया ।

छब्बीसवाँ अध्याय

कृष्ण-कर्ण संवाद

जब कृष्ण अपने कार्य में सफलीभूत नहीं हुए तो उन्होंने चलते-चलते एक और युक्ति लगाई जिससे कर्ण और दुर्योधन में विरोध हो जाय और कर्ण उसका पक्ष छोड़कर पाण्डवों का साथ दे ।

कर्ण के विषय में कहा जाता है कि वह पाण्डवों का सौतेला भाई[1] है, पर यह विवाह से पहले उत्पन्न हुआ था इसलिए कुन्ती ने भी उसे अपना पुत्र स्वीकार नहीं किया था । पाठको को याद होगा कि बाल्यावस्था में पाण्डवों और धृतराष्ट्र के पुत्रों की परीक्षा ली गई थी तो कर्ण को अर्जुन का प्रतिपक्षी बनने की आज्ञा नहीं दी गई थी क्योंकि वह हीन कुलोत्पन्न था ।[2] उसी दिन से उसने प्रण किया था कि किसी तरह अर्जुन को परास्त कर इस अपमान का बदला लूँगा । इसी अभिप्राय से उसने दुर्योधन से मित्रता पैदा की और उसको अपना सहायक बना दिया । दुर्योधन की सेना में कर्ण और भीष्म अर्जुन के बराबर के योद्धा गिने जाते थे । दुर्योधन को विश्वास था कि इन दोनों के सामने अकेले अर्जुन की कुछ न चलेगी । इससे उसको इतना अभिमान था कि वह इस सन्धि को अस्वीकार करता था । कृष्णचन्द्र यद्यपि अन्तःकरण से चाहते थे, कि लड़ाई न हो, पर पाण्डवों को उनका स्वत्व न मिले और सन्धि हो जाय इस बात को भी वे पसन्द नही करते थे । वह तो इसे पाप समझते थे । इसलिए हस्तिनापुर से विदा होने के पहले उन्होंने यह युक्ति लगाई कि कर्ण को उसके जन्म का यथार्थ परिचय देकर दुर्योधन की सहायता करने से रोकें । कृष्ण ने कर्ण को बहुत कुछ समझाया और पाण्डवों की ओर से यहाँ तक कहा कि उम्र मे सब भाइयों से बड़े होने के कारण गद्दी के अधिकारी आप ही हैं । इस पर भी कर्ण ने दुर्योधन का साथ छोड़ना स्वीकार नहीं किया और उत्तर दिया कि मैं दुर्योधन से उसका साथ देने का दृढ़ संकल्प कर चुका हूँ । अब यदि चक्रवर्ती राज्य भी मिले तो मैं उसका साथ नहीं छोड़ सकता । मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि या तो अर्जुन को युद्ध क्षेत्र में नीचा दिखाकर यश और कीर्ति लाभ प्राप्त करूँ और संसार में महावीर कहलाऊँ अथवा उसके हाथ से मारा जाकर स्वर्ग को सिधारूँ । कृष्णचन्द्र की चतुरता का यह अन्तिम वार भी खाली गया । अब इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय बाकी न रहा कि अपनी-अपनी सेना सजाई जाए और युद्ध की तैयारियाँ की जायें । जब कृष्ण हस्तिनापुर से लौटे तो युधिष्ठिर ने अपनी सेना के साथ प्रस्थान किया और कुरुक्षेत्र के मैदान में आ पहुँचा । अब लड़ाई की तैयारियाँ होने लगीं ।

---

1 कर्ण कुन्ती का कानीन (कन्यावस्था में उत्पन्न) पुत्र था ।

2. कर्ण का पालन एक सारथी (अधिरथ) ने किया था

सत्ताईसवाँ अध्याय

महाभारत का युद्ध

भारत संतान के इन दोनो वंशों में मेल कराने की कोई युक्ति बाकी नहीं रही। साम, दाम प्रत्येक नीति काम में लाई गई पर किसी प्रकार भी अन्त भला नहीं निकला, तब अपने बाहुबल से न्याय प्राप्त करना स्थिर किया गया। सत्य है जब दिन बुरे आते हैं तो बुद्धि विपरीत हो जाती है।[1] भले और बुरे का ज्ञान नहीं रहता। बुद्धि पर परदा पड़ जाता है, और ऐसे ही अवसर पर कहा जाता है कि भाग्य बड़ा प्रबल है। कर्मों की गति के सामने मानुषी युक्तियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। महाभारत की लड़ाई क्या थी? आर्य जाति के बुरे कर्मों का दण्ड था। राजा और प्रजा के एकत्रित पाप मानो मनुष्य रूप धारण कर कुरुक्षेत्र में इसलिए इकट्ठे हुए थे कि आर्यावर्त की विद्या, कला और कौशल में जो कुछ अच्छा हो उसे मिट्टी में मिला दिया जाय। ऐसा जान पड़ता था मानो अब आर्य जाति का अन्तकाल आ पहुँचा। इस बात पर सहसा विश्वास नही होता कि भीष्म और युधिष्ठिर, अर्जुन और द्रोण युद्धक्षेत्र में खड़े होकर एक-दूसरे से लड़ने को तैयार होंगे और गुरु तथा शिष्य अपने-अपने पद और नियम का विचार रखकर भी प्राचीन आर्यावर्त की श्रेष्ठता की अन्तिम झलक दिखाकर मानो उसे वहीं सफल करने के लिए इकट्ठे होंगे। यह कौन जानता था कि महाराज शान्तनु के बाद तीसरी पीढ़ी में उसके वंश वाले यों ही युवावस्था की उमंग अपने बल के परीक्षार्थ सारे आर्यावर्त को मिट्टी में मिला देंगे और अपने हाथ से अपनी जाति को उन्नति के शिखर से उतारकर अवनति के गड्ढे में डाल देंगे। हाय! इस आपस की लड़ाई ने भारत को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। महाभारत की लड़ाई में जिस तरीके से दोनों सेनाएँ सुसज्जित की गईं, सैनिकों ने जो वीर भाव दिखलाए, जिस रीति से सेना खड़ी की गई, और उनसे धावा कराया गया, यह सब वृत्तान्त पढ़कर एक दीर्घ श्वास लेना पड़ता है। माना कि इस वर्णन में 95 प्रतिशत कविकृतित्व है पर इसे घटाकर जो 5 प्रतिशत शेष बच जाता है वह भी हमें आठ-आठ आँसू रुलाने के लिए बहुत है।

मनुष्य का दैहिक बल, सेना की गिनती अथवा ऐसी ही और बातों में चाहे कितनी कल्पना क्यों न खर्च की जाय पर संसार में न कोई ऐसा होमर जन्मा और न वर्जिल जिसने समरविद्या से अनभिज्ञ या एक कायर जाति के लिए इलियड और औडिसी लिख डाली हो। होमर और वर्जिल की कविता से यूनानियों और रोमियों की वीरता और युद्ध तथा शस्त्रविद्या का भली भाँति परिचय मिलता है। वैसे ही आर्य जाति को युद्धविद्या में जो निपुणता प्राप्त थी वह महाभारत

---

1 विनाश काले विपरीत बुद्धि

स अच्छी तरह प्रकट होती है । कविकृतित्व के लिए जो अपवाद रखना हो वह रख लो, तब भी जो कुछ शेष बच जाता है वह नेत्रों के सामने एक विचित्र दृश्य खड़ा कर देता है । यह सच है कि उन वीर आर्यों के उत्तराधिकारी अब उस भाषा का भी पूरा ज्ञान नहीं रखते जिसमे ये घटनाएँ वर्णित है । इनके लिए इस युद्ध का वर्णन ऐसा है जैसे अँगरेजी भाषा से एक अनभिज्ञ पुरुष के लिए मिल्टन का पेरेडाइज लास्ट ।[1]

सारांश यह कि दोनों ओर से लड़ाई की ठन गई । दोनों ओर की सेना सुसज्जित होकर सामने आई । सेनाओं को स्थान-स्थान पर बाँटकर सेनापति नियत कर दिये गए । कौरवों की ओर से सेना का आधिपत्य भीष्म पितामह को दिया गया और दूसरी ओर से धृष्टद्युम्न को । शख, घड़ियाल आदि बाजों की ध्वनि से आकाश-पाताल एक हो गये । घोड़ों की टाप से पृथिवी कम्पायमान हो गई । सेनापतियों की प्रभावशाली वक्तृता से सैनिकों का रक्त उबल रहा था । इस मैदान में जो कुछ था वह उत्तेजनापूर्ण था । भाई भाई से दादा पोते से, गुरु शिष्य से लडने के लिए तैयार थे ।

सारे स्नेह का त्याग करके आन की आन में भाई भाई के खून का प्यासा दीख पडने लगा । अहा ! क्या दृश्य था । आर्यावर्त जैसे महान् देश की सारी युयुत्सु जातियाँ अपने अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर लड़ने को तैयार थीं ।

सत्य है, किसी देश की समृद्धि को देखना हो तो वहाँ की सेना को देखें । अपने शत्रु के सामने आने के लिए प्रत्येक जाति अपनी पूरी शक्ति को प्रकट करने का यत्न करती है ।

महाभारत की लड़ाई के आरम्भ के पहले कुरुक्षेत्र का मैदान एक प्रदर्शनी के समान था जिसमें भारतवर्ष का पूरा वैभव दिखाई देता था । विचित्र रंगमंच था । परदे विचित्र थे । बाजे गाने विचित्र थे और साथ ही अभिनेता भी अपने-अपने गुण में पंडित थे, जो फिर इसके बाद आर्यावर्त के मंच पर नहीं आये । इस रंगस्थली में अर्जुन ने कृष्ण को आज्ञा दी कि मेरा रथ दोनो सेनाओं के बीच मे ले जाकर खड़ा करो जिससे दोनों दलों पर मै अच्छी तरह से नजर डाल सकूँ । कृष्ण ने तत्काल आज्ञा का पालन किया और अर्जुन तथा कृष्ण दोनो सेनाओ के बीच जा खड़े हुए । ज्योंही अर्जुन की दृष्टि कुरुसेना पर पड़ी और उसने भीष्म और द्रोण को देखा तो उसका दिल हिल गया । इस समय वैराग्य के भाव उसके दिल में उठने लगे । यहाँ तक कि अर्जुन विवश होकर कह उठा कि सांसारिक सुख व राजपाट के लिए मुझे भीष्म और द्रोण जैसे सत्पुरुष और धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करना स्वीकार नहीं, मै तो नहीं लड़ता । कृष्ण ने जब यह सुना तो आश्चर्यचकित होकर रह गये ।

उन्होंने सबसे पहले अर्जुन को क्षत्रियत्व की अपील की और तिरस्कार से काम निकालना चाहा । उसने दोनों सेनाओ की ओर संकेत करके पूछा, "हे अर्जुन, आर्यों में तो ऐसी कायरता नही होती, जैसी इस समय तू दिखा रहा है । देख, दोनों दल लड़ने को कमर बाँधे खडे है । तू इस समय यदि इस मिथ्या वैराग्य में फँसकर मैदान छोड़कर भाग खडा होगा तो लोग क्या कहेंगे ? तेरे शत्रु तेरी वीरता में संदेह करके तेरी निन्दा करते फिरेंगे । क्षत्रिय का धर्म लडना

1 अंग्रेज कवि मिल्टन रचित महाकाव्य

है । यदि क्षत्रिय लड़ाई में मारा जाएगा तो वह सीधा स्वर्ग जाएगा । यदि तू सफल हुआ तो इस पृथ्वी का राज्य और सुख तेरे साथ रहेंगे ।'' पर अर्जुन के चित्त पर ऐसा आघात लगा था कि उसे समझाने का कुछ भी असर नहीं हुआ । निदान कृष्ण ने आत्मा के विषय का उपदेश करके अर्जुन में से आत्मा विषयक अज्ञान निकाल दिया । उन्होंने अर्जुन को समझाया, '' आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता है । न कोई इसे जन्म दे सकता है और न मार सकता है फिर तेरा यह विचार कैसा मिथ्या है कि मै भीष्म और द्रोण को मारकर सांसारिक सुख भोगने की इच्छा नहीं रखता ।

'' न तुझमें यह शक्ति है, कि तू इनको मार सके और न उनमे यह शक्ति है कि वह तुझे मार सकें । आत्मा पर न तो लोहे की मार है और न अग्नि को । मरने और मारने वाला तो यह शरीर है जो आत्मा का वस्त्र है । यह शरीर नाशवान् है और कर्म करने के लिए मनुष्य को दिया गया है । परमात्मा ने जो धर्म जीवात्मा के लिए नियत किया है उसे पूरा करने के लिए उसकी योग्यतानुसार उसे वह शरीर प्रदान किया जाता है । जीवात्मा का यह काम नही कि इस शरीर के रक्षार्थ अपना धर्म-कर्म छोड़ दे और मेरे-तेरे के भ्रम में पड़कर यथार्थ धर्म का परित्याग करे । जीवात्मा का यही धर्म है कि शरीर से वही काम ले जिसके लिए यह दिया गया है । यह शरीर धर्म के अनुकूल कर्म करने के लिए दिया गया है न कि अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए । जो लोग अपनी इच्छा को प्रधान मानकर काम करते हैं वे कर्म के फेर में फॅसे रहकर यथार्थ धर्म से दूर रह दुख-सुख के बन्धन में फँसे रहते हैं । परन्तु जो जीवात्मा अपनी इच्छा का परित्याग कर शरीर को निष्काम कर्म में लगाते है वे सचाई को पाकर शारीरिक प्रयोजन और उसके बन्धनों से स्वतंत्र हो जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त होते हैं । अतएव तुझे उचित है कि क्षात्र धर्म का पालन करता हुआ मेरे और तेरे, अथवा इसके और उसके कुविचार को छोड़ दे और अपने धर्म पर स्थिर रह । ऐसा न करने से तू घोर पाप का भागी बनेगा और नरक मे पड़ेगा । ''

नोट—पाठक ! यह कथन उस उपदेश का सार है जो कृष्ण ने कुरुक्षेत्र में अर्जुन को दिया था और जिसके प्रभाववश अर्जुन फिर लड़ने को बद्धपरिकर हो गया था । साधारणत: यह विचारा जाता है कि गीता का समस्त उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को युद्धक्षेत्र में किया था । हमको इसे मानने मे संकोच है, पर यदि यह सत्य है तब भी गीता का सार वही है जो हमने ऊपर कहा है । जब तक लड़ाई होती रही तब तक कृष्ण बराबर अर्जुन के साथ रहे और यद्यपि उन्होने स्वयं शस्त्र नहीं चलाये, पर इसमें संदेह नहीं कि कृष्ण की उपस्थिति से पाण्डवों को बडी सहायता मिलती रही । सारी लड़ाई में वे पाण्डवों के मन्त्रदाता बने रहे और स्थान-स्थान पर इनकी सेना को प्रोत्साहित करते रहे । इस युद्ध का सविस्तार वर्णन करना इस पुस्तक की सीमा के बाहर है, अत: हम केवल उन घटनाओं का ही उल्लेख करेंगे जिनसे कृष्णचन्द्र का सबंध है या जिससे कृष्ण के चरित्र पर कुछ प्रकाश पड़ता है ।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

भीष्म की पराजय

जिस दिन प्रातःकाल युद्ध आरम्भ हुआ उसके पहले दिन सायंकाल युधिष्ठिर ने कवच और शस्त्रादि उतार कुरुसेना की ओर प्रस्थान किया। उसके भाई तथा उसकी सेना आश्चर्य मे थी कि महाराज यह क्या कर रहे हैं, शस्त्र-रहित होकर शत्रु की ओर क्यों जा रहे है ? शत्रु-दल भी चकित था कि युधिष्ठिर यह क्या कर रहे है। उनके भाई उनके पीछे दौड़े और उनसे उनके इस विचित्र कार्य का कारण पूछने लगे। उनके साथ कृष्ण भी थे। जब युधिष्ठिर ने अर्जुन की बातो का कुछ उत्तर न दिया तो कृष्ण ने अर्जुन आदि भाइयों को समझाया कि युद्ध से पहले युधिष्ठिर अपने कुल के ज्येष्ठ भीष्म और आचार्य से लड़ाई करने की आज्ञा लेने चले हैं, क्योंकि शास्त्र ऐसा आदेश देते हैं। युधिष्ठिर अपने भाइयों को साथ लिए भीष्म के डेरे में पहुँचे और उनके चरणों पर सिर धर दिया और लडाई की आज्ञा माँगी। भीष्म युधिष्ठिर की इस नीति पर बडे प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया, "पुत्र ! मैं प्रसन्न चित्त से तुम्हें लड़ाई करने की आज्ञा देता हूँ। मेरी समझ में तू सत्य मार्ग पर है। परमात्मा तेरी वृद्धि करे।" भीष्म की आशीष लेकर युधिष्ठिर अपने आचार्य द्रोण के पास गये, और इसी तरह उनसे आज्ञा प्राप्त की। फिर कृपाचार्य इत्यादि के पास से होते हुए अपने डेरे पर लौटे।

इसके पश्चात् लड़ाई छिड़ गई। दस दिन तक कुरुसेना लड़ती रही। कुरुसेना का सेनापति भीष्म अपने काल का विख्यात योद्धा था। पाण्डवों की सेना में यदि कोई उसकी बराबरी का था तो वह केवल अर्जुन था। दूसरे में ऐसी शक्ति नहीं थी कि भीष्म के बाणों के आगे ठहरता। पाण्डव अच्छी तरह से जानते थे कि जब तक भीष्म जीवित रहेंगे तब तक जय पाना असभव है, इसलिए वे अनेक प्रकार से भीष्म पर आक्रमण करते थे, पर हर बार भाग खडे होते थे। तीन दिन की लड़ाई में भीष्म ने अनगिनत प्राणों को नष्ट किया। रक्त की धारा बह चली। जिधर वह जा पड़ता था उधर ही बात की बात में सैकड़ों और हजारों खेत रहते थे। कृष्ण को इन तीन दिनो की लड़ाई में आभास हो गया कि अर्जुन जी से नही लड़ता और भीष्म पर मार करने से झिझकता है।

उन्हें विश्वास था कि अर्जुन के अतिरिक्त और किसी में यह पुरुषार्थ नहीं जो भीष्म को नीचा दिखावे और जब तक भीष्म जीवित है तब तक पाण्डवों का मनोरथ सफल होना कठिन है। इसलिए तीसरे दिन की लड़ाई में जब उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि अर्जुन जी तोडकर नहीं लड़ता और भीष्म पर धावा करते समय मुँह मोड़ता है तो वे मारे क्रोध के रथ से उतर पड़े और शस्त्र हाथ में लेकर यह कहते हुए भीष्म की ओर चले कि जिसको जाना हो वह चला

जाय, जो मरने से डरता है वह पीछे रहे । यदि कोई भीष्म पर वार नहीं करता तो मैं खुद भीष्म को मार गिराऊँगा । कृष्ण की यह दशा देखकर अर्जुन कुछ लज्जित हुआ और मन में सोचने लगा कि कृष्ण ने तो लड़ाई में शस्त्र न चलाने का प्रण किया था । यदि क्रोधवश ये अपना प्रण भंग कर बैठे तो इसका पाप मेरे सिर होगा । यह सोचकर वह भी कृष्ण के पीछे हो गया । कुछ दूर जाने पर उनको पकड़ लिया और सशपथ कहने लगा, ''आप चिन्ता न करें, मैं भीष्म को मारूँगा ।'' इस सारी योजना से कृष्ण का जो अभिप्राय था वह सिद्ध हुआ । अर्जुन से यह बात सुनके कृष्ण ठंडे हो गये और फिर रथ पर आ बैठे । अब अर्जुन ने बड़े उत्साह से युद्ध आरम्भ किया । यहाँ तक कि लड़ाई का समा बदल दिया और हजारों आदमियों को मिट्टी में मिला दिया । पर फिर भी जब तक भीष्म जीवित थे तब तक लड़ाई का बंद होना असंभव था, इसलिए पाण्डवों ने पूरा बल उनको पराजित करने को ओर लगाया ।

उधर दुर्योधन और उसके भाइयों ने पूर्ण रीति से भीष्म की रक्षा की और उनकी सहायता का प्रबंध किया । यहाँ तक कि सात दिन इसी दाँवपेच मे समाप्त हो गये । नित्यप्रति हजारों सैनिकों का वारा-न्यारा होता था परन्तु सात दिन तक न भीष्म रणक्षेत्र से हटे, न अर्जुन को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचा । सातवें दिन अर्जुन और शिखण्डी ने मिलकर भीष्म को अपने बाणों से पिरो दिया । यहाँ तक कि वृद्ध, बाल जितेन्द्रिय, बाल ब्रह्मचारी योद्धाओं के योद्धा युद्ध के योग्य न रहा और गिर गया । जब भीष्म के गिरने का समाचार सैन्य दब में फैल गया तो द्रोण की आज्ञा से लड़ाई बन्द हो गई और दोनों ओर के योद्धा मान-मर्यादा के विचार से उनके सिरहाने एकत्रित हुए । भीष्म ने तकिये की इच्छा प्रकट की जिस पर दुर्योधन आदि कौरवों ने भाँति-भाँति के बहुमूल्य और नरम तकिये मँगाये, जिनको भीष्म ने स्वीकार नहीं किया और अर्जुन की ओर ध्यान देकर कहा कि मेरी समयानुकूल अवस्था के अनुसार मेरे लिए तकिया बना दे । अर्जुन ने ऐसी योग्यता से तीन बाण भूमि पर चलाये जिससे इन तीन बाणों से भीष्म के सिर के लिए तकिया बन गया । बाण-शय्या के लिए बाणों का ही तकिया उपयुक्त था । भीष्म बहुत प्रसन्न हुए और अर्जुन को आशीर्वाद दिया ।

भीष्म की मृत्यु के संबंध में यह कहावत प्रचलित है कि जिस समय वह धरती पर गिरे वहाँ अनगिनत बाण थे और वह इसी तरह बाणों पर पड़े हुए कई दिनों तक जीवित रहे, मानो उनकी शय्या बाणों की बनी हुई थी । इसीलिए अर्जुन ने बाणों का सिरहाना उनके लिए बनाया जिससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुए ।

नोट—भीष्म और अर्जुन के युद्ध के संबंध में एक और किवदन्ती है जो साधारण दृष्टि से पीछे की मिलावट प्रतीत होती है । कथा इस प्रकार है कि जब 9 दिन तक लड़ाई होती रही और भीष्म को कुछ हानि नहीं पहुँची तो पाण्डव अधिक चिंतित हुए । तब कृष्ण ने युधिष्ठिर को यह सलाह दी कि भीष्म के पास चलो और उसी से पूछो कि तुमको किस तरह से मारा जाय । जब युधिष्ठिर ने भीष्म के समीप जाकर यह प्रश्न किया तो भीष्म ने उत्तर दिया कि तुम्हारी सेना मे जो युवराज शिखंडी (राजा पांचाल का पुत्र) है उसका स्वरूप स्त्रियों के सदृश

है। यदि वह मेरे ऊपर आक्रमण करे तो वह निश्चय ही मुझे मारने में समर्थ होगा, परन्तु मैं उससे स्वयं युद्ध नहीं करूँगा।

भीष्म के पास से लौटने पर पाण्डवों ने यह निश्चय किया कि दूसरे दिन शिखंडी को ही युद्ध का सेनापति बनाकर धावा किया जावे। जब दूसरा दिन हुआ तो अर्जुन ने शिखंडी को ही अगुआ करके धावा कर दिया। भीष्म भी इस युद्ध मै अर्जुन को कठोर आघात पहुँचाते रहे और दुर्योधन की सेना के अन्य शूरवीर लोग भी शिखंडी को लक्ष्य करके निशाने मारते रहे।

महाभारत की शोध करने वाले व्यक्ति तो इस बात को पीछे की मिलावट ही मानते है क्योंकि यह समस्त वृत्तान्त पाठक को पूरा विश्वास नही दिलाता। प्रथम तो भीष्म जैसे दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्ति के लिए यह कब संभव था कि वह शत्रु को अपनी मृत्यु का उपाय बतलाकर दुर्योधन से विश्वासघात करता। भीष्म तो दुर्योधन के पक्ष में युद्ध की प्रतिज्ञा कर चुका था क्योंकि वह राजा धृतराष्ट्र का सभासद था और विपक्ष में उनके वंश-विरोधी महाराज पांचाल थे। अन्तःकरण से तो वह युधिष्ठिर के ही पक्ष में था और जानता था कि दुर्योधन और धृतराष्ट्र अधर्म पर है परन्तु अपनी मानसिक इच्छाओं द्वारा वह उन कर्तव्यों को समूल नष्ट नहीं कर सकता था जो कौरव राज्य के प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित सभासद होने के संबंध से उस पर थे। इधर युधिष्ठिर को भी उसने राजा मान लिया था। न तो वह अपने राजा के विरोध में शस्त्र प्रहार करने में समर्थ था और न युद्ध से विमुख ही हो सकता था। इसके अतिरिक्त यह प्रकट है कि शिखंडी के रण में सामने आने पर भी भीष्म उस समय तक लड़ता रहा जब तक अर्जुन ने अपने बाणों की बौछार में प्रथम ही उसके सारथी को मार नहीं डाला। फिर उसके धनुष को भी गिरा दिया। भीष्म जो तीर निकालते, अर्जुन उनको भी काट डालता था। सशक्त होने पर भीष्म अपनी तलवार और ढाल लेकर रथ से उतरने लगा, कदाचित् इस विचार से कि अब वह तलवार की लड़ाई लड़ेगा, परन्तु अर्जुन ने तीरों की लगातार वर्षा कर उसकी ढाल और तलवार भी हाथ से गिरा दी। यहाँ तक कि वृद्ध भीष्म नवयुवक अर्जुन के तीरों से अशक्त हो भूमि पर गिर पड़ा। उसके गिरते ही महाभारत की लड़ाई का प्रथम दृश्य समाप्त हो गया। तीरो की शय्या पर पड़े हुए भीष्म ने दुर्योधन को मेल करने का उपदेश किया, परन्तु दुर्योधन कब मानने लगा। उसको अपनी सेना पर इतना भरोसा था कि भीष्म की पराजय के पश्चात् भी उसको अपनी अन्तिम जय की पूरी आशा थी।

उन्तीसवाँ अध्याय

महाभारत के युद्ध का दूसरा दृश्य : आचार्य द्रोण का सेनापतित्व

भीष्म विजय के अगले दिन दुर्योधन ने अपनी सेना का सेनापतित्व आचार्य द्रोण को सौंपा। यद्यपि द्रोण ब्राह्मण थे तथापि युद्धविद्या और शस्त्रविद्या में वे अपने समय के आचार्य तथा बड़े निपुण थे। युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, दुर्योधन इत्यादि सब इनके शिष्य थे जिनमें अर्जुन सबसे योग्य था। युद्ध के कुछ तरीके तो ऐसे थे जो उन्होंने केवल अर्जुन को ही सिखाये थे, अन्य किसी को नही।

द्रोण के सेनापतित्व मे युद्ध बड़े वेग से आरम्भ हुआ और अधिक मारकाट होती रही। एक दिन अर्जुन लड़ाई का मैदान छोड़कर युद्धक्षेत्र के एक किनारे पर कौरव सेना के उस भाग से युद्ध कर रहा था जो द्रोण ने दुर्योधन के आधिपत्य मे भेजा था। पीछे से द्रोण ने पाण्डवों पर ऐसे दाव-पेंच चलाये जिससे वे घबडा गये। उसने पाण्डवों के एक बड़े समूह को ऐसे व्यूह मे घेर लिया जिससे उनका बचना कठिन हो गया। पाण्डवों की सेना मे अर्जुन के अतिरिक्त और कोई इस व्यूह की लड़ाई को नहीं जानता था। अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु, जो केवल 16 वर्ष का युवक था, किंचित् इस व्यूह विद्या को जानता था। अत: वह वीरतापूर्वक रणक्षेत्र में आया और अपनी वीरता के करतब दिखलाने लगा। 16 वर्ष के इस युवक ने कौरव सेनापतियों व सरदारो को इतना कष्ट दिया जिससे उन्हें इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नही सूझा कि सात चुने हुए महारथी (जिनमें द्रोण स्वयं भी सम्मिलित था) एकत्र होकर उस पर आक्रमण करें। अभिमन्यु अभी बालक ही था। उसमें इतनी सामर्थ्य कहाँ थी कि इन सात योद्धाओं का सफलता से सामना करता। बेचारा युद्ध करता हुआ रण में गिर गया और गिरते ही किसी ने उसका सिर काट लिया। अभिमन्यु का वध होना था कि पाण्डवों के दल में रोना-पीटना आरम्भ हो गया। अभिमन्यु कृष्ण की बहन सुभद्रा का पुत्र था और सारे पाण्डवों को उससे अधिक प्रेम था। सारी सेना उसकी सुन्दरता, वीरता, युद्ध-कौशल तथा बाणविद्या पर मोहित थी। सायंकाल जब लड़ाई बंद हुई, कृष्ण और अर्जुन भी लड़ते-लड़ते शिविर में आये तो सारी सेना को उन्होंने रोते-पीटते देखा। अर्जुन की आँखों के सामने तो अन्धकार छा गया। युधिष्ठिर अलग बेसुध थे। अत में कृष्ण ने अपनी चतुर नीति से सबको धैर्य दिया और अर्जुन को समझाया। उन्होने कहा, "अभिमन्यु तो युद्ध करता हुआ सीधा स्वर्गधाम को सिधारा तुम क्षत्रिय पुत्र की मृत्यु पर रुदन कर क्यों अपना परलोक बिगाड़ते हो ? क्षत्रियो के

लिए तो ऐसी मृत्यु सौभाग्य है।'' इसी प्रकार उसने अपनी बहन सुभद्रा और दूसरे सैनिकों को भी संतोष देकर शांत किया।

अर्जुन को यह बतलाया गया कि सिंधु के राजा जयद्रथ ने अभिमन्यु का सिर काटा है। अर्जुन ने उसी समय यह प्रतिज्ञा की कि कल सायकाल से पहले मै जयद्रथ को मारकर अपने पुत्र का बदला लूँगा, नहीं तो स्वयं जीते जी आग में जलकर भस्म हो जाऊँगा। कृष्ण को अर्जुन की इस प्रतिज्ञा से बड़ी चिन्ता हुई। सोचा कि अर्जुन की इस प्रतिज्ञा की खबर अभी दुर्योधन को पहुँच जाएगी और वह ऐसा प्रबंध करेगा जिससे कि जयद्रथ अर्जुन के सामने ही न आने पावे और दूर ही दूर रहे। उसके लिए यह कठिन भी नहीं होगा कि कल सायंकाल तक किसी-न-किसी प्रकार जयद्रथ को बचा सके। यदि कल सायंकाल तक जयद्रथ नहीं मारा गया तो बस अर्जुन का अंत है। उन्होंने अपने रथवान को आज्ञा दी कि कल मेरा रथ पूर्ण रीति से सुसज्जित रहे, क्योंकि अर्जुन को बचाने के लिए यदि आवश्यकता हुई तो मैं स्वयं ऐसी रीति व्यवहार में लाऊँगा जिससे जयद्रथ मारा जावे और अर्जुन बचा रहे।

दूसरे दिन जब युद्ध आरम्भ हुआ तो दुर्योधन ने अपनी सेना को इस तरह से जमाया जिससे जयद्रथ परले किनारे पर खड़ा रहा और सारी तैयारी उसके बचाव के लिए की गई क्योंकि कौरवों के लिए जयद्रथ का सायंकाल तक जीवित रहना जय प्राप्त करने के समान था। पाण्डवों की सेना मे से यदि अर्जुन निकल जाता तो फिर दुर्योधन के जीतने में क्या शका थी। अगले दिन कृष्ण ने सारथी-कला के ऐसे गुण दिखाये और युद्ध के बीचोबीच व्यूह को चीरकर इस रीति से अर्जुन को जयद्रथ के सामने लाकर खड़ा किया जिससे जयद्रथ के लिए लडने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रहा। ऐसा क्यो न होता जबकि अर्जुन जैसे महाबली योद्धा और कृष्ण जैसे सारथी हों। कृष्ण तो सारथी-विद्या का कौशल दिखा सकते थे परन्तु उनकी कला किस काम आती यदि अर्जुन उपस्थित वीरो से अपने आपको न बचाता, क्योंकि सारे रास्ते भयंकर युद्ध होता रहा। कौरव सेना के सब बड़े-बड़े योद्धा बारी-बारी लड़ते। कभी भिन्न-भिन्न और कभी कई लोग एकत्र होकर अर्जुन से युद्ध करते रहे, परन्तु वीर अर्जुन सबसे युद्ध करता हुआ किसी को मारता, किसी से बचता, किसी को अपनी सेना के दूसरे योद्धाओ को सौपता, अपनी जान को हथेली पर लिए बाणवर्षा, निशानेबाजी और युद्ध के कर्तव्य दिखलाता हुआ जयद्रथ के सामने जा पहुँचा और उसको युद्ध करने पर बाध्य किया। युद्ध मे उसका सिर काटकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

इस प्रकार कई दिन तक लड़ाई होती रही और दोनों दलों के प्रसिद्ध क्षत्रिय जान की बाजी लगाकर मृत्यु के मुँह में जाते रहे। द्रोण कई दिन तक बड़ी वीरता तथा होशियारी से पाण्डव सेना का नाश करते रहे, परन्तु अंत में वे इतने घायल हो गये कि उनके हाथ से शस्त्र गिर गये और धृष्टद्युम्न ने उनका सिर काट डाला। द्रोण की मृत्यु से महाभारत के युद्ध का दूसरा दृश्य समाप्त हुआ। दूसरा दृश्य क्या समाप्त हुआ मानो आधा भाग युद्ध ही समाप्त हुआ।

नोट—द्रोण की मृत्यु के संबंध में भी एक किंवदन्ती है जो वास्तव में पीछे से मिलाई हुई मालूम होती है। यह इस प्रकार है। द्रोण ने युद्ध में इस प्रकार के शस्त्र प्रयोग किये जिन्हे

दूसरी ओर के लोग नहीं जानते थे और इसलिए वे इन शस्त्रों की मार से बचने की प्रणाली से भी अनभिज्ञ थे । परिणाम यह हुआ कि द्रोण ने पाण्डव सेना को अत्यन्त हानि पहुँचाई । इस हानि को देखकर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को यह सलाह दी कि द्रोण को किसी-न-किसी प्रकार मारना चाहिए, चाहे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई झूठी और अधर्म की चाल भी क्यो न चलनी पड़े । अत: उन्होंने यह सम्मति दी कि यदि द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा मारा जाये तो वे लड़ना छोड़ देंगे । इसलिए झूठमूठ ही उनको यह खबर पहुँचा दी जाये कि अश्वत्थामा मर गया है ।

अर्जुन और युधिष्ठिर ने इस सलाह को अस्वीकार किया, परन्तु भीम और अन्य दरबारियो को यह चाल बहुत पसन्द आई । उन्होंने युधिष्ठिर पर दबाव डाला कि वे स्वयं अपने मुख से यह कहे, क्योंकि उनके अतिरिक्त और किसी के कथन का द्रोण विश्वास नहीं करेंगे ।

युधिष्ठिर ने बहुत कुछ संकोच किया परन्तु भीम इत्यादि ने उन पर बड़ा जोर डाला । अत यह निश्चित करके अश्वत्थामा नाम के एक हाथी को मारा गया और द्रोण के आगे यह प्रकट किया गया कि तुम्हारा पुत्र अश्वत्थामा मर गया । द्रोण ने किसी के कहने पर इसका विश्वास नही किया और युधिष्ठिर से पूछा । युधिष्ठिर ने कहा कि "हाँ, अश्वत्थामा मारा गया" परन्तु धीरे से यह भी कह दिया—"हाथी" । द्रोण ने 'हाथी' तो सुना नहीं और अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर अत्यन्त दुखित हुए । यद्यपि उसके बाद भी वे बराबर लड़ते रहे परन्तु दिल टूट जाने से दु:खित होकर उन्होंने शस्त्र डाल दिये । उनके शस्त्र डालते ही विपक्षियो ने उनका सिर काट डाला ।

अनेक विद्वानो की सम्मति है कि यह कहानी पीछे की मिलावट है । द्रोण ब्राह्मण थे धृष्टद्युम्न क्षत्रिय था । क्षत्रिय के लिए ब्राह्मण को मारना उचित नहीं था । इस कारण पांचाल दरबार के किसी कवि ने अपने राजपुत्र से ब्राह्मण हत्या का पाप दूर करने के लिए इस युद्ध का सारा बोझ श्रीकृष्ण के सिर मढ़ दिया है । श्रीकृष्ण को तो स्वयं परमेश्वर माना ही जाता है । परमेश्वर सब कुछ कर सकता है और उसके लिए सब कुछ उचित है, इस कारण उनके विचार से श्रीकृष्ण पर कुछ दोष नहीं आ सकता । सम्भवत: इस कहावत का एक और अभिप्राय भी है अर्थात् लड़ाई में धोखा, दगाबाजी, झूठ का व्यवहार उचित ठहराया जाता है । तथापि स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस समय यह कहानी बढ़ाई गई उस समय भी आर्यपुरुषों मे सत्य का इतना मान था, सर्वसाधारण को झूठ व धोखे से इतनी घृणा थी कि इस कहानी के बनाने वाले महाशय को यह भी लिखना पड़ा कि युधिष्ठिर ने जब यह असत्य कहा तो इससे उसका रथ, जो सत्यता के कारण पृथिवी से कुछ ऊँचाई पर चला करता था, वह पृथिवी के संग लग गया । युधिष्ठिर के लिए यह प्रसिद्ध है कि इससे पहले उसने कभी झूठ नहीं बोला था और उसकी सत्यता का प्रताप ऐसा था कि जिस रथ पर वह बैठता था वह रथ पृथ्वी से कई हाथ ऊपर हवा में चला करता था । परन्तु जब वह झूठ बोला तो तुरन्त उसका रथ पृथ्वी पर गिर पड़ा और अन्य साधारण मनुष्यो में तथा उसमें कोई भेद न रहा । उपर्युक्त लेख से यह प्रकट है कि द्रोण श्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनने पर भी युद्ध करता रहा । हम उन ग्रन्थकर्ताओं से सहमत

हैं जिनकी सम्मति में यह कहानी पीछे की मिलावट और मूल घटना के विरुद्ध प्रतीत होती है । द्रोण के देहान्त के बाद का भाग सब का सब गप मालूम होता है । कवि को अपनी बात निभाने के लिए पाण्डव शिविर मे झगड़ा करवाने की आवश्यकता प्रतीत हुई । अर्जुन इत्यादि की इस धोखेबाजी पर युधिष्ठिर को धिक्कार और भीम तथा धृष्टद्युम्न द्वारा उनकी सहायता आदि सारे उल्लेख प्रक्षिप्त हैं ।

तीसवाँ अध्याय

महाभारत के युद्ध का तीसरा दृश्य : कर्ण और अर्जुन का युद्ध

युद्ध तो भीष्म और द्रोण के मरने से ही समाप्त हो गया था, परन्तु दुर्योधन को कर्ण की बाणविद्या और शस्त्रविद्या पर इतना भरोसा था कि अभी तक सफलता की टिमटिमाती रोशनी कभी-कभी उसकी आँखो के सामने झलक दिखा जाती थी । कर्ण ने यह शपथ खाई थी कि वह अर्जुन को मारेगा या स्वयं युद्ध में उसके हाथ से मारा जाएगा ।

द्रोण के मरने पर दुर्योधन ने कर्ण को अपनी सेना का सेनापति बनाया । कर्ण ने भी युद्ध में इस प्रकार हाथ दिखलाये जिससे देवता भी उसकी वीरता का सिक्का मान गए । कई अवसरो पर तो उसने युधिष्ठिर को युद्ध में नीचा दिखाया और पाण्डव सेना को बहुत हानि पहुँचाई । श्रीकृष्ण ने यह चाल चली कि प्रथम तो अर्जुन को इसके सामने युद्ध में आने से रोकता रहा । जब कर्ण पाण्डव सेना के विख्यात योद्धाओं से लड़ता-लडता थक गया और पाण्डव दल म कोई अन्य वीर उसके सामने लड़ने वाला न रहा तो कृष्ण ने अर्जुन को कर्ण के सामने कर दिया । कर्ण और अर्जुन का युद्ध क्या था मानो भूचाल था । दोनों वीरों ने तीरों की बौछार से युद्धस्थल को धुआँधार कर दिया और शस्त्रविद्या के ऐसे कौशल दिखलाये जिससे पाँच हजार वर्ष के बीतने पर भी अभी तक अर्जुन और कर्ण का नाम सर्वसाधारण के सामने है । इस युद्ध में कृष्ण पर भी बाणों और अन्य शस्त्रों की बहुत मार रही, परन्तु वह अपने समय का एक ही पुरुष था जो खूब होशियारी से अपने आपको बचाता रहा और अर्जुन को लड़ाई के लिए उत्तम से उत्तम स्थान पर ले जाकर खड़ा करता रहा । एक समय कर्ण के रथ का पहिया कीचड मे फँस गया । कर्ण स्वयं पहिये को निकालने के लिए रथ से नीचे उतरा और उसने युद्ध-धर्म के नाम पर अर्जुन से अपील की कि जब तक मैं फिर रथ पर न बैठ जाऊँ, युद्ध रुका रहे ।

उस समय कृष्ण ने यद्यपि संकेत से अर्जुन को तो रोक दिया परन्तु बड़े जोर से कर्ण को इस बात पर धिक्कारा कि अब अपनी जान बचाने के लिए उसे धर्म याद आ गया । उस दिन धर्म को कहाँ भूल गया था जब तेरी उपस्थिति में द्रौपदी को राजसभा में बेइज्जत किया गया था जब तुम सात आदमियों ने इकट्ठे होकर बेचारे अभिमन्यु को मारा था, जब तेरी सम्मति से दुर्योधन ने पाण्डवों के महल को आग लगा दी थी आदि । कर्ण इस धिक्कार का तो क्या जवाब देता रथ का पहिया निकालकर फिर लड़ने लगा और अंत में अर्जुन के हाथ से मारा

गया । कर्ण के मरते ही कौरव सेना ने भागना आरम्भ किया और दुर्योधन के शिविर में दुःख और शोक छा गया । हाँ ! लालच और क्रोध ने दुर्योधन की आँखों पर ऐसा परदा डाल दिया था कि इतनी मारकाट पर भी उसका चित्त नहीं पिघला और अब भी उसके दिल से राज्य की अभिलाषा गई नहीं ।

इकतीसवाँ अध्याय

अन्तिम दृश्य व समाप्ति

दूसरे दिन मद्रदेश के राजा शल्य सेनापति बनकर युद्ध में आये, परन्तु थोडी देर में ही खेत रहे। राजा के मरते ही सेना तितर-बितर हो गई।

दुर्योधन भाग गया और एक बन में जाकर छिप रहा। परन्तु मृत्यु कब किसे अवसर देती है। पाण्डव उसका पीछा करते हुए बन में पहुँचे और उन्होने दुर्योधन के स्थान का पता लगा लिया। युधिष्ठिर ने जोर से पुकारकर उससे कहा, "हे दुर्योधन ! स्त्रियों की तरह छिपकर अपने वश पर क्यों धब्बा लगाता है। बाहर आ, युद्ध कर। यदि तू हममें से एक को भी लड़ाई मे मार डाले तो हम सब राजपाट तुझे सौंपकर जंगल को चले जावेंगे।"

युधिष्ठिर की इन बातों पर दुर्योधन के चित्त में फिर आशा की चिंगारी चमकी और उसने कहा, "मैं राज्य[1] के वास्ते तो अब लड़ना नहीं चाहता, परन्तु बदला लेने की आग मेरे हृदय मे भड़क रही है। मैं अपने साथियों की मृत्यु का बदला लेने के लिए तुमसे लड़ने को उद्यत हूँ। राज्य तो मैने तुझको दे दिया। जा अब इस वीरान जंगल पर तू राज्य कर, ऐसा राज्य दुर्योधन के काम का नहीं।" युधिष्ठिर ने फिर कहा, "हे दुर्योधन ! मुझे दान की तरह तुझसे राज्य लेना स्वीकार नहीं है। अब मैदान में आकर युद्ध कर। यदि तू हममें से किसी एक को भी मार ले तो राज्य तेरा हुआ, और हम सब भाई पुनः वन में चले जाएँगे।" दुर्योधन ने कहा, "अच्छा ! मुझे युद्ध स्वीकार है, परन्तु मैं गदा से युद्ध करूँगा। गदा से युद्ध करने की जिसमे सामर्थ्य हो वह मेरे सामने आ जावे। हे युधिष्ठिर, तेरे और अर्जुन जैसे दुर्बल लोगो से मैं क्या लड़ूँ ? बेशक भीम मेरी टक्कर का है। मैं उससे लड़ता हूँ।" अन्ततः भीम और दुर्योधन मस्त हाथियों की तरह एक-दूसरे के साथ टकराने लगे। अन्त में भीम ने अवसर पाते ही दुर्योधन की जाँघ पर गदा का ऐसा प्रहार किया जिससे वह चकनाचूर होकर गिर पड़ा। उसके गिरते ही भीमसेन ने उसके सिर पर लात मारी। युधिष्ठिर और कृष्ण ने उसको ऐसा करने से रोका क्योंकि आर्य पुरुषों में परास्त हुए बैरी का अपमान करना बहुत बुरा समझा जाता है। दुर्योधन की इस हार से महाभारत युद्ध का अन्त हो गया। पाण्डव जीत करके अपने डेरो मे वापस आये और अपनी विजय की खुशी मे नाचरंग करने लगे।

युद्ध मे असंख्य लोगों के मारे जाने के कारण यह नाचरंग बहुत फीका था। पुत्रों, भाइयो,

---

1 यदि यह विचार लड़ाई से पहले दुर्योधन के चित्त में पैदा होता तो शायद महाभारत का विनाशकारी युद्ध न हुआ होता।

सबधियों और मित्रों की लाशें रणभूमि में पड़ी हुई नाचरंग के इन उत्सवों को दु.खमय बना रही थी, परन्तु तो भी यह जीत ही थी जिससे पाण्डव प्रसन्न थे । युद्ध की समाप्ति हुई, शत्रु मारे गये सत्य की जय हुई, दुर्योधन और उसके भाइयों का प्रलाप और अत्याचार समाप्त हुआ और द्रौपदी की बेइज्जती का बदला भी खूब लिया गया । अन्ततः इस आनन्द वेला मे पॉचो पाण्डव उस दिन शिविर से बाहर रहे और रात को भी वहाँ नहीं आए । इधर तो विजय के आनन्द मे वे खुले जंगल की वायु का आनन्द ले रहे थे और उधर मृत्यु-देवता अपनी घात में लगा हुआ था ।

जब पाण्डव दुर्योधन को रणभूमि में छोड़कर वापस चले गए तो उसकी सेना के तीन बचे हुए वीर अर्थात् अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र), कृपाचार्य और कृतवर्मा उसके पास आए । वे उसको इस बुरी अवस्था में देखकर रोने लगे । एक समय वह था जब दुर्योधन आर्यावर्त के सबसे बडे राज्य का स्वामी थ । लाखों सैनिकों का सेनापति था । गगनचुम्बी सुन्दर महलों में निवास रखता था । उत्तम से उत्तम और कोमल से कोमल शय्या पर सोता था । सैकड़ो-हजारों मनुष्य उसकी आज्ञा के पालन के लिए हर समय प्रस्तुत रहते थे । वह आनन्द भोग में निमग्न था तथा राज्य और सम्पत्ति के नशे में ऐसा चूर था, कि बुरे व भले, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म मे अन्तर नही कर सकता था । आज वह दिन है कि राजपुत्र दुर्योधन धूलि में पड़ा सिसक रहा है । उसके चारो ओर लाशों के ढेर थे जो पुकार-पुकारकर उसकी नालायकी, घमंड और अन्याय पर उसे धिक्कारते थे । थोडे ही दिन हुए थे कि उसने एक बड़ी सेना के साथ धूमधाम व प्रचंड उत्साह से थानेश्वर[1] के मैदान में डेरा डाला था और उसको कभी स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं आया था कि इन अगणित मनुष्यों के इकट्ठे होने का शायद यही फल हो जो आज उसके नेत्रो के सामने है । भाई, मित्र, संबंधी जो थे वे आज चारों ओर खुनी वस्त्र पहने हुए मिट्टी में थे । पक्षी उड़-उड़कर आते और उनके शरीर के मांस को नोच कर ले जाते थे । इन सबका प्रिय नेता दुर्योधन स्वयं भी शत्रु के हाथ से परास्त होकर जीने से निराश, साथियों के साथ प्रेम का दम भरता हुआ उस भूमि में पड़ा था । परमात्मा ने उसको इसलिए अब तक जीता रखा था जिससे कि वह अपनी मूर्खता का परिणाम अच्छी तरह से देख, समझ और अनुभव करके अपने प्राण छोड़े । हा ! कैसा भयानक और शिक्षाप्रद दृश्य था । कौरव वंश का अधिपति हस्तिनापुर के राजा का पुत्र और उसकी यह अवस्था ! ऐसे अवसर पर तो शत्रु भी रो देता है । अश्वत्थामा और कृपाचार्य इत्यादि को तो रोना ही था । रोने-धोने के पश्चात् अश्वत्थामा ने दुर्योधन पर प्रकट किया कि बदला लेने की आग उसके हृदय में वेग से जल रही है । उसने दुर्योधन से बदला लेने की आज्ञा माँगी । फलतः दुर्योधन ने कृपाचार्य इत्यादि की ओर लक्ष्य करके उस समय अश्वत्थामा को अपनी सेना का सेनाध्यक्ष निश्चित किया और उसको युद्ध जारी रखने की आज्ञा दी ।

कौरव वंश के अभाग्य की समाप्ति नही हुई थी । द्रोण के इस वीर पुत्र के चित्त मे बदले की आग जल रही थी । उसने यह ठान लिया था कि चाहे धर्म से या अधर्म से मैं अपने पिता

---

1 कुरुक्षेत्र से अभिप्राय है जो थानेश्वर के निकट है

बत्तीसवाँ अध्याय

युधिष्ठिर का राज्याभिषेक

युद्ध के समाप्त होते ही पाण्डवों ने कृष्ण को हस्तिनापुर के लिए विदा किया ताकि वे वहाँ जाकर युद्ध की पूरी स्थिति से धृतराष्ट्र को सूचित करें। यह कठिन कार्य किसी साधारण पुरुष के वश का नहीं था। कृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे। धृतराष्ट्र और उसकी धर्मपत्नी गान्धारी दुःख में रोते-कलपते थे। कृष्ण ने इधर-उधर की बातें कर उनको ठंडा किया और संतोष दिलाया। अब गान्धारी ने अपने मृत पुत्रों के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की और राजा धृतराष्ट्र रानियों के सहित रणभूमि की ओर चले। वहाँ पहुँचकर जो दृश्य इन रानियों ने देखा, वह असह्य था। रानियाँ देखती थीं और रोती थीं। उनके प्रिय पतियों के शव रक्त में लिपटे एक-दूसरे के ऊपर पड़े हुए थे। बहुतों को तो जानवरों ने पहचानने के योग्य ही नहीं रखा था, परन्तु बहुतों को अभी पहचाना जा सकता था। अपने-अपने सम्बन्धियों को देखकर स्त्रियाँ रोती थीं। गान्धारी अपने बेटों को देखकर रोती थी और कुन्ती अपने पोतों को रोती थी। सारे वंश में कोई स्त्री ऐसी नही थी जिसके लिए इस युद्ध में सिर पीटने और चिल्लाने के लिए सामग्री न थी। गान्धारी के बारे में यह प्रसिद्ध था कि वह बड़ी समझ वाली, बुद्धिमती और धर्मात्मा स्त्री थी। इसके सबध में जो उल्लेख महाभारत में हैं उनसे इसके धैर्य, बुद्धिमत्ता और गम्भीरता के पूरे प्रमाण मिलते हैं, परन्तु कौन माता है जो अपने समस्त वंश को इस तरह अपने ही नेत्रों के सामने खून मे लिपटा हुआ देखकर अपने धैर्य को स्थिर रख सके। इसलिए कोई आश्चर्य नही कि कुरुक्षेत्र की भूमि में अपने पुत्रों के मृतक शरीरों को देखकर उसने कृष्ण को शाप दिया और उनको इस बरबादी और रक्तपात का जिम्मेदार ठहराया। अन्त में कृष्ण के द्वारा चाचा और भतीजों में मिलाप हो गया। भतीजों ने बड़ी नम्रता से चाचा और चाची के चरणों पर सिर रख दिये। युधिष्ठिर पर तो इतना दुख छाया हुआ था कि उसने राज्य करने से इन्कार कर दिया। उसके भाई समझाते थे परन्तु वह नहीं मानता था। यहाँ तक कि स्वयं धृतराष्ट्र और गान्धारी ने भी युधिष्ठिर को बहुत कुछ समझाया, परन्तु उसने अपने मन्तव्य पर दृढ़ता प्रकट की और यही कहते रहे कि भाई-बंधुओं और बड़ों के रक्त में हाथ रँगकर अब राज्य करने मे मुझे क्या सुख हो सकता है! मेरे लिए तो अब यही शेष है कि तप करके अपने पापो का प्रायश्चित्त करूँ और अवशिष्ट जीवन परमात्मा की याद में अर्पण करके अपनी आत्मा को दुख व क्लेश से बचाऊँ। अन्त में जब सब कह चुके और कुछ भी असर नहीं हुआ तो फिर कृष्ण ने उन्हें कुछ व्यंग्य-वचन सुनाये। कभी नर्मी और कभी गर्मी से काम लेते हुए उन्होंने अत मे क्षात्र-धर्म के नाम पर युधिष्ठिर से अपील की और उसको वश में कर लिया कृष्ण का साथ

जीवन बताता है कि यह वचन-चातुरी ही उनका सबसे जबरदस्त और उपयुक्त हथियार था जो अचूक था । अपने समय के दर्शन और वर्ण-धर्म के विषय में वह निपुण थे और उनकी व्यवस्था कभी खाली न जाती थी । वैराग्य के दर्शन को वह ऐसा विवेचित करते थे कि उनके सामने झूठे त्याग के विचार भागते से दिखाई देते थे । वैदिक धर्म के पृथक्-पृथक् भावो को वे समन्वित करते थे और एक श्रेणीबद्ध दृश्य तैयार कर देते थे । प्राचीन शास्त्रो, ऋषियो और मुनियों की मर्यादा में वे ऐसे निपुण थे कि जहाँ उन्होंने प्रमाण देने आरम्भ किये, वहाँ प्रतिपक्षी के द्वारा उन्हें मानने के सिवाय और कोई चारा ही नहीं रहता था । अतः इस अवसर पर भी कृष्ण का उपदेश काम कर गया और युधिष्ठिर ने राजपाट छोड़कर त्यागी बनने के विचार को चित्त से दूर कर दिया ; अन्त में रोते हुए सम्बन्धियों ने भाई, भतीजों, निकटवर्ती प्रियजनों के मृतक-संस्कार किये और फिर हस्तिनापुर को रवाना हुए । हस्तिनापुर में पहुँचकर युधिष्ठिर को गद्दी पर बैठाया गया । युधिष्ठिर गद्दी पर तो बैठ गया परन्तु उदास रहने लगा । फिर कृष्ण ने उसको अश्वमेध यज्ञ करने के लिए तैयार किया और उस यज्ञ की तैयारियों में पाण्डवों को लगाकर स्वयं मातृभूमि द्वारिका चले गये ।

नोट—युधिष्ठिर के राजसिंहासन पर बैठने के बाद और कृष्ण के द्वारिका जाने से पहले महाभारत मे एक और घटना का उल्लेख है, जिसकी सत्यता में संदेह है । यह कथा प्रचलित है कि जब युधिष्ठिर राजगद्दी पर बैठे तो भीष्म पितामह अभी जीवित थे । यह मालूम नहीं कि वे कुरुक्षेत्र से हस्तिनापुर आ गये थे या वहाँ ही किसी स्थान पर थे, परन्तु किंवदन्ती इस प्रकार है कि युधिष्ठिर की राजगद्दी के पश्चात् कृष्ण युधिष्ठिर और सारे पाण्डवों को महाराज भीष्म के पास ले गये और उनकी प्रार्थना पर महाराज भीष्म ने युधिष्ठिर को वह उपदेश किया जो महाभारत के शान्ति और अनुशासन पर्व में लिखा है । यह उपदेश लम्बा और जटिल है । ऐसे-ऐसे कठिन विषय इसमे भरे हुए हैं जिससे इस बात के मानने में संकोच होता है कि मरने के समय इस प्रकार के उपदेश महात्मा भीष्म ने दिये हों । तो भी किसी ऐसे महान् पुरुष से मृत्यु के समय उपदेश लेना साधारण बात है । अतः इस घटना का सत्य होना भी असम्भव नही है । यदि ऐसा हुआ भी हो तो भी महाराज भीष्म के असल उपदेशों पर बाद में इतनी टिप्पणियाँ चढ़ीं और उनमें इतनी मिलावट हुई जिससे यह निर्णय करना असम्भव है कि इसमें से कितना उपदेश महाराज भीष्म का है और कितना पीछे से मिलाने वालों के विचारों का अंश है ।

तैंतीसवाँ अध्याय

महाराज श्रीकृष्ण के जीवन का अन्तिम भाग

महाभारत के युद्ध के पश्चात् एक बार महाराज कृष्ण फिर हस्तिनापुर आए। यह अश्वमेध यज्ञ का अवसर था जिसकी तैयारियाँ महाभारत की लड़ाई के समाप्त होते ही आरम्भ हो गई थी। इस अवसर पर इनका आना एक ऐसी घटना से संबंध रखता है जिसकी आश्चर्यजनक कथा मे-से सत्य का निकालना कठिन है। कथा इस प्रकार है कि जिस दिन महाराज कृष्ण हस्तिनापुर आये उसी दिन रानी उत्तरा के एक लड़का उत्पन्न हुआ जो मरा हुआ था। उत्तरा महाराज विराट की लड़की और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की विवाहिता स्त्री थी। अभिमन्यु की मृत्यु के समय वह गर्भवती थी और चूँकि युद्ध के समाप्त होने पर द्रौपदी के पुत्रो को अश्वत्थामा ने बदले की आग में जलाकर मार दिया था इस कारण आगे आने वाले वंश का विस्तार उत्तरा के बच्चे पर ही था। जिस समय उत्तरा के पुत्र उत्पन्न हुआ और वह मरा हुआ दिखाई दिया, तमाम महल मे रोना-पीटना आरम्भ हो गया। आशाएँ मिट्टी में मिल गईं और चारों ओर रोने-पीटने की आवाज सुनाई देने लगी। संयोग से महाराज कृष्ण भी उसी समय नगर में आये और रोने-पीटने का कोलाहल सुनकर सीधे महल में गये। अभिमन्यु कृष्ण की बहिन सुभद्रा का पुत्र था अर्थात् उत्तरा कृष्ण के अपने भांजे की रानी थी। जब स्त्रियों को पता लगा कि कृष्ण आ गये तो उन्होंने उनको घेर लिया और बच्चे को उनके सामने डालकर रोने लगीं। कृष्ण ने बच्चे को देखते ही कहा कि मै इसको जिला दूँगा। अन्ततः बच्चे की ओर देखकर वे कहने लगे कि, ''ए बालक, मैने अपने जीवन मे कभी झूठ नहीं बोला, न मैं कभी युद्ध से भागा। बस यदि मेरे इन व्यवसायो में कुछ शक्ति है तो तू जी उठे।'' बच्चा हिलने लगा और धीरे-धीरे बिलकुल अच्छा हो गया। इस बालक का नाम परीक्षित था जो बाद में पाण्डवों के राज्य का स्वामी हुआ। अश्वमेध यज्ञ कुशलता से समाप्त हुआ और कृष्ण महाराज फिर अपने नगर को चले गये।

इस युद्ध के समाप्त होने पर, वह 36 वर्ष तक निर्विघ्न होकर द्वारिका में रहे, परन्तु इस समय में उनकी जाति के यादवों में गर्व, राग, द्वेष, मदिरापान इत्यादि इतना बढ़ गया, कि यादव लोग श्रीकृष्ण के अधिकार के बाहर हो गये। खुल्लमखुल्ला आपस में लड़ाइयाँ होने लगी। इन लड़ाई-झगड़ों से समस्त यादव बरबाद हो गये। यहाँ तक कि यादव राजवंश में से सिर्फ चार आदमी बाकी बचे। वे थे श्री कृष्ण, बलराम, दारुक और सात्यकि।

बलराम ने इस अपार दुख से दुखी होकर समुद्र के किनारे आकर प्राण त्याग किये और श्रीकृष्ण महाराज अपने सारथी दारुक को अर्जुन के पास भेजकर स्वयं बन की ओर चले गए

और तप करने लगे । जब दारुक ने अर्जुन के समीप जाकर उससे सब समाचार कहे तो अर्जुन तुरन्त द्वारिका चले आये और कृष्ण के परपोते वज्रनाभ को यादव स्त्रियों सहित हस्तिनापुर लिवा ले गये । उसने कृष्ण के अधीन राज्य भी वज्रनाभ के नाम कर दिया ।

श्रीकृष्ण की मृत्यु के विषय में किंवदन्ती है कि वे जब योग समाधि में बैठे थे तो एक शिकारी का तीर इनके पैर में आ लगा । जब शिकारी पास आया तो उसे मालूम हुआ कि उसने भूल से एक मनुष्य को अपने तीर से घायल कर दिया है । इस भूल पर वह बहुत पश्चात्ताप करने लगा, परन्तु कृष्ण महाराज ने उसको धैर्य दिया । यहाँ तक तो एक प्रकार से यह संभव घटना का वर्णन है, परन्तु आगे इसी कथा का अंत इस प्रकार होता है कि उस शिकारी बधिक के देखते-देखते कृष्ण महाराज[1] आकाश मे चले गये जहाँ सब देवताओं ने मिलकर इनका भक्तिपूर्वक स्वागत किया और इनके आगमन से प्रसन्न होकर बड़ा आमोद-प्रमोद मनाया ।

1. ईसा मसीह के विषय मे भी ऐसी ही दन्तकथा प्रसिद्ध है कि वह अपनी मौत से तीसरे दिन जिन्दा होकर फिर आसमान पर चढ़ गए । यदि बुद्धिमान् ईसाई ईसा मसीह के विषय की उक्त घटना पर विश्वास कर सकते हैं तो उन्हें इस पौराणिक वर्णन की घटना पर विश्वास करने में क्यों संदेह होता है ?

चौतीसवाँ अध्याय

क्या कृष्ण परमेश्वर के अवतार थे ?

भूमिका में हमने इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर देकर यह प्रण किया था कि कृष्ण के जीवनचरित को लिखने के पश्चात् इस विषय पर कुछ अवश्य लिखेंगे । अतः कृष्ण के जीवनचरित का वर्णन समाप्त कर अब हम अपने प्रण को पूरा करते है ।

क्या परमेश्वर मनुष्य-शरीर धारण करता है ?

परमेश्वर को मानने वाले सब आस्तिक लोग उसको सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अजन्मा, अमर, अनादि, अनंत आदि गुणों से सम्बोधन करते है । पुनः यह बात किस तरह ठीक हो सकती है कि उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को अपने सेवकों के रक्षण हेतु नर-देह धारण करने की आवश्यकता पड़े ? मनुष्य-देह में आने से तो वह स्वयं बधन में पड़ जाएगा और तब वह सर्वव्यापी नहीं रह सकता ।

क्या ईश्वर का अवतार मानने वाले हमको यह बतला सकते हैं कि जिस समय श्रीकृष्ण महाराज के शरीर में परमात्मा ने अवतार लिया था उस समय सारे संसार का शासन कौन करता था ? जब श्रीकृष्ण कौरवों से लड़ते थे, शिशुपाल से झगड़ते थे, जरासंध के भय से भागते फिरते थे उस समय संसार का प्रबंध किसके हाथ में था और किस तरह चल रहा था ? तात्पर्य यह है कि बुद्धि इस बात को कदापि स्वीकार नहीं कर सकती कि इस सृष्टि का स्वामी और बनाने वाला परमात्मा कभी नर-देह मे आता है । उसका तो यही गुण है कि वह संसार के सारे प्रपचों से परे है । यह शरीर तो उसके बनाये हुए हैं । मनुष्य जिसके कार्य-कौशल को स्वय नही समझ सकता, उसके विषय में कह देता है कि वह परमेश्वर ही इस बलहीन और बधन-युक्त मनुष्य-देह में आता है ताकि वह हमें अपने उदाहरणों से बतला सके कि किस प्रकार से जीवन व्यतीत करना चाहिए । उस परमात्मा के विषय में ऐसा सोचना वास्तव में उसके ईश्वरत्व को अस्वीकार करना है । मनुष्य को ईश्वर का पद देना या ईश्वर को गिराकर मनुष्य के पद पर पहुँचा देना बड़ा भारी अपराध है । हमें खेद है कि हमारी जाति के लोग इस बुनियाद पर इतना भरोसा रखते हैं और अवतारों को माने बिना धर्म-शिक्षा का होना भी विचार में नही ला सकते । यद्यपि यह विषय बहुत आवश्यक और मनोरंजक भी है, इस पर वादानुवाद करने को भी जी चाहता है, परन्तु लेख के बढ़ जाने का विचार हमें रोकता है । दूसरे इस विषय पर वादानुवाद करना इस पुस्तक के उद्देश्यों से भी बाहर है । अस्तु, केवल इतना कहकर हम सतोष करते हैं कि वेदों और उपनिषदों में परमात्मा को अज (अजन्मा अमर अविनाशी और अक्षय

इत्यादि कहा है । यदि हम यह मान लें कि परमात्मा स्वयं भी देह धारण करता है तो उपर्युक्त सभी गुण व्यर्थ हो जाते हैं ।

अवतारों का अभिप्राय महापुरुषों से है

नि सदेह अवतारों से अभिप्राय यदि ऐसे महापुरुषों से है जिनकी शिक्षा-दीक्षा से, जिनकी जीवन-प्रणाली से दूसरे मनुष्य अपने जीवन को उत्तम बना सकते हैं और इस संसार-रूपी समुद्र से तैरकर पार हो जाते हैं, तो कोई हानि नहीं । इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि संसार मे समय-समय पर ऐसे लोगों की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है और ऐसे लोग समय-समय पर जन्म भी लेते है जिनकी शिक्षा-दीक्षा, आदेश और उपदेशों से तथा जिनके जीवन की पवित्रता से दूसरे लोग लाभ उठाते है । जीवन के इस तूफान-भरे समुद्र में भूलों-भटकों और भँवर मे पडी हुई नावो के लिए वे मल्लाह का काम करते है तथा अत्यन्त निराश, हतोत्साही अशान्त और व्याकुल आत्माओं को शान्ति देते हैं । ऐसे लोग संसार की प्रत्येक जाति में उत्पन्न होते है और वे उन मुक्त आत्माओं की श्रेणी मे से आते हैं जिनको अपनी उच्च आत्मिक शक्ति के कारण दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा परमात्मा की निकटता प्राप्त होती है । इनमें अन्यान्य जीवो से अधिक ईश्वरीय शक्तियाँ होती है । यह ईश्वरीय शक्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो फिर भी ईश्वर ईश्वर ही है और मनुष्य मनुष्य ही है । मनुष्य कभी ईश्वर नहीं हो सकता । और न आत्मा परमात्मा के पद को प्राप्त हो सकती है ।

हमारा विश्वास है कि यह सब पूर्णपुरुष ईश्वर के उस नियम को फैलाने, समझाने और प्रचार करने के लिए जन्म लेते हैं जो ईश्वर ने सृष्टि के आदि में अपने जनों के कल्याण के लिए निज ज्ञान दिया था और जिसे संस्कृत भाषा में वेद कहते हैं । अतः यदि कृष्ण महाराज को इस सिद्धान्त से अवतार कहा जाय तो कोई हानि नहीं ।

क्या कृष्ण ने स्वयं कभी परमेश्वर के अवतार होने का दावा किया ?

श्रीकृष्ण के जीवन की जो घटनाएँ हमने गत पृष्ठों में वर्णन की हैं, उनसे यही प्रमाणित होता है कि कृष्ण ने स्वयं कभी अवतार होने का दावा नहीं किया । भगवद्‌गीता के अतिरिक्त महाभारत के और किसी हिस्से में ऐसे दावे का प्रमाण भी नहीं मिलता । भगवद्‌गीता श्रीकृष्ण की बनाई हुई नहीं है इसलिए भगवद्‌गीता का प्रमाण इस विषय को पूर्ण रूप से पुष्ट भी नहीं कर सकता । परन्तु यदि आप प्रश्न करें कि भगवद्‌गीता के बनाने वाले ने क्यों ऐसी युक्ति दी जिससे यह परिणाम निकलता कि कृष्ण महाराज अपने आपको अवतार समझते थे ? इसका उत्तर यह है कि अपने कथन को विशेष माननीय और प्रामाणिक बनाने के लिए उन्होंने ऐसा किया । भगवद्‌गीता का वह भाग जिसमें कृष्ण अपने को परमात्मा या परमात्मा का अवतार मानकर उपदेश करते हैं, यह प्रकट करता है कि गीता एक प्राचीन पुस्तक नहीं है, क्योंकि वैदिक साहित्य में जिसमें ब्राह्मण उपनिषद् और सूत्रादि भी शामिल है उसमे इस प्रकार के बहुत कम

प्रमाण हैं जिनमे उपदेश करने वाले को ऐसा (अवतार का) पद दिया गया हो। जहाँ तक हमने छानबीन करके मालूम किया है उपनिषदों में केवल एक ऋषि[1] के वचनों मे इस तरह का वर्णन पाया जाता है और वह भी इतना स्पष्ट और बहुतायत से नहीं, जैसा भगवद्गीता में। भगवद्गीता का क्रम प्रकट करता है कि भिन्न-भिन्न समय के पंडितों की रचना से यह पुस्तक भरी है। हम स्वयं गीता की उर्दू टीका प्रकाशित करने की इच्छा रखते हैं[2] इसलिए उस पुस्तक मे इस विषय पर अधिक विस्तार से लिखेंगे। अत: यह निश्चित है कि गीता कृष्ण की बनाई हुई नहीं है। गीता के प्रमाण से कोई यह नहीं कह सकता कि कृष्ण स्वयं अवतार होने का दावा करते है।

क्या कृष्ण के समकालीन लोग उन्हें ईश्वर का अवतार समझते थे ?

युधिष्ठिर, भीष्म, अर्जुन, द्रोण, दुर्योधन, जरासंध और अन्य समकालीन लोगों का कृष्ण से व्यवहार भी यही प्रकट करता है कि उनमें से कोई भी उन्हें परमेश्वर का अवतार नही समझता था। ये लोग कृष्ण महाराज को केवल मनुष्य समझकर ही उनसे वैसा बर्ताव करते रहे। यदि युधिष्ठिर कृष्ण को परमेश्वर का अवतार मानते होते तो उनको जरासंध के मुकाबले में भेजने से कदापि संकोच न करते। यद्यपि महाभारत का रचयिता स्पष्ट लिखता है कि महाराज युधिष्ठिर ने कृष्ण की प्रार्थना को बड़े संकोच से स्वीकार किया और जरासंध और शिशुपाल आदि कृष्ण का यदि परमेश्वर का अवतार समझते तो वे उनसे कदापि शत्रुता नहीं करते। भीष्म और द्रोण भी कभी उनके सामने लड़ने को नहीं खड़े होते। आश्चर्य तो यह है कि गीता के उपदेश को सुनने के बाद भी अर्जुन पूरे दिल से भीष्म और द्रोण के विरुद्ध नहीं लड़ा। तब श्रीकृष्ण को विराट रूप धारण कर अर्जुन को उभारने की आवश्यकता पड़ी। यदि वर्तमान में उपलब्ध महाभारत को सही मान लिया जाय तो उसके अनुसार अर्जुन ने कृष्ण और भीष्म की इस सलाह को भी स्वीकार नहीं किया कि युधिष्ठिर द्रोण को हतोत्साहित करने के लिए यह प्रसिद्ध करे कि अश्वत्थामा मर गया। परन्तु अर्जुन ने इस प्रकार की धोखेबाजी पर बहुत घृणा प्रकट की थी। तात्पर्य यह कि उन घटनाओं से यही प्रमाणित होता है कि कृष्ण के समकालीन सखा लोग भी उनको परमेश्वर का अवतार नहीं समझते थे।

क्या कृष्ण महाराज धर्म-सुधारक थे ?

यही नहीं, हमको तो यह भी निश्चय नहीं होता कि धर्म का उपदेश या धर्म-प्रचार करना कभी श्रीकृष्ण महाराज ने अपना उद्देश्य बनाया हो। प्रथम तो उनका राजवंश में जन्म लेना ही यह बताता है कि वे धर्म के उपदेशक या धर्म-प्रचारक कदापि नहीं थे। यह ठीक है कि उस समय राजर्षि का पद बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था और ऐसे ऋषि आचार्य भी होते थे तथापि ब्रह्मर्षि

1 वामदेव ऋषि जिसने [illegible] के साक्षात्कार की स्थिति में ऐसे विचार व्यक्त किये थे
2 यह पुस्तक [illegible] मैसेज ऑफ भगवद्गीता शीर्षक से [illegible]908 में इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित हुई

का पद बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था और ऐसे ऋषि आचार्य भी होते थे तथापि ब्रह्मर्षि की पदवी सर्वश्रेष्ठ थी जैसा कि विश्वामित्र और वशिष्ठ के उपाख्यानों से विदित होता है। दूसरा कोई उल्लेख या पुराण कथा हमको यह नहीं बताते कि अर्जुन या युधिष्ठिर को उपदेश करने के सिवाय उन्होंने कभी सर्वसाधारण मे धर्म-प्रचार की चेष्टा की हो। वास्तविक बात तो यह है कि धर्म-प्रचार उनका लक्ष्य ही नहीं था। वे जन्म और स्वभाव से पूरे क्षत्रिय थे इसलिए यथावश्यक उन्होंने अपने क्षत्रिय भाइयो के समक्ष अपने धार्मिक विचार प्रकट किये। समय-समय पर युधिष्ठिर और अर्जुन के हतोत्साहित होने पर कृष्ण महाराज ने क्षात्रधर्म की व्याख्या की और इस अवस्था में धर्म के विषय मे उन्होने जो कुछ कहा वह सब लोकहित-साधन के लिए ही कहा। इसके अतिरिक्त अन्यत्र कभी उन्होंने न तो धर्मोपदेश दिया और न धर्म-प्रचार करने की चेष्टा ही की। न तो उन्होंने धर्म विषय पर कोई ग्रन्थ लिखा और न कभी शास्त्रार्थ किया जैसा उपनिषदों में जनक महाराज के नाम से प्रसिद्ध है। कृष्ण महाराज ने अपने सखाओं को जो कुछ धर्म का उपदेश किया वह समयानुसार अत्यावश्यक जानकर ही किया। इसलिए हमारा विचार है कि गीता के सारे उपदेश को उनके सिर मढ़ना उचित नहीं है। भला लड़ाई के समय में ऐसी लम्बी, युक्तिपूर्ण, सूक्ष्म दर्शन की बातें छाँटने का कौन-सा अवसर था ? मतलब तो केवल इतना था कि अर्जुन को लड़ाई के लिए उत्साहित किया जाये और यह मतलब उतने मे ही पूरा हो जाता है जितना दूसरे अध्याय में लिखा है।

बस इससे अधिक जो है वह पीछे के पंडितों की मिलावट है। गीता के 18 अध्याय के लेख को देखने से मालूम हो जाएगा कि अनेक विचारों को प्रत्येक अध्याय में दोहराया गया है। कृष्ण के उपदेश का वह भाग जिसके द्वारा अर्जुन को लड़ने के लिए उत्साहित किया गया था, सम्भवत: इन सब अध्यायो मे उन्हीं के शब्दो में मौजूद है, यद्यपि हर एक अध्याय का वर्णन अलग-अलग है। अस्तु, हमारी राय में भगवद्गीता में कृष्ण का उपदेश उतना ही है जितना कि सब अध्यायों में पाया जाता है। शेष उक्तियाँ दूसरे विद्वानों द्वारा बढ़ाई गई है। इस विवाद से यह भी परिणाम निकलता है कि गीता एक ही लेखक की लिखी हुई नही है और न उन वेदव्यास कृत हो सकती है जो वेदांत दर्शन के बनाने वाले कहे जाते हैं। यह कदापि संभव नही कि व्यास जैसा दर्शन का ज्ञाता पुरुष एक ही विचार को बार-बार दुहराता जैसा उसने गीता में दोहराया है। दर्शनकारों की श्रेष्ठता यही है कि उन्होंने बड़ी-से-बड़ी और कठिन-से-कठिन युक्तियों को सरल और संक्षिप्त शब्दों में वर्णबद्ध कर दिया। बड़े-बड़े मोतियों को बारीक धागे मे पिरोकर रख दिया। परन्तु गीता का क्रम, गीता की लेखन-प्रणाली और काव्य-शैली इसके विरुद्ध है। कोई-कोई यूरोपियन विद्वान् तो इससे यह परिणाम निकालते हैं कि गीता दार्शनिक समय से पहले की बनी हुई है, अर्थात् उस समय की है, जिसमें दर्शनों की भाँति क्रमबद्धता और वैज्ञानिक युक्तियाँ आर्यों में जारी नहीं हुई थीं। पर मेरी समझ में यह विचार ठीक नहीं हैं क्योंकि गीता के लेख से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है कि समस्त दर्शनो का अभिप्राय मनुष्य को एक ही तत्त्व तक पहुँचाता है। गीता से हमको यही शिक्षा मिलती है कि ज्ञान से कर्म से ध्यान से भक्ति से और योग से किस तरह मुक्ति मिलती है गीता

मे भिन्न-भिन्न साधनों के परस्पर संबंध प्रकट कर उनका अंतिम परिणाम एक ही बतलाया गया है अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति ।

मेरे इस वाद-विवाद से आप यह परिणाम न निकालें कि मैं अपनी सम्मति में गीता का छिद्रान्वेषण करता हूँ । मै तो अपने को उन विद्वानों की चरण-रज के तुल्य भी नहीं समझता जिन्होंने गीता बनाई । मैं तो शायद कई जन्मों में उनकी युक्तियों के मर्म को भी नहीं समझ सकता हूँ । मैं उनकी विद्वत्ता और ज्ञान के सम्मुख प्रसन्नतापूर्वक सिर झुकाता हूँ । परन्तु फिर भी यह कहने से नहीं रुक सकता कि गीता मुझे एक ही विद्वान् की कृति नहीं मालूम होती । गीता रचने वालों का मतलब दर्शनशास्त्र की रचना से नही था अपितु मनुष्य मात्र के नित्यप्रति के व्यवहार के लिए एक ऐसे उपदेश का संग्रह करने का था जिसमें दर्शनों का निचोड़ इस भाँति आ जावे जिससे उसका समझना कठिन न हो । निदान इस निचोड़ को उन्होंने जिस उत्तमता से संग्रह किया उससे उनकी अद्वितीय बुद्धिमत्ता का ही परिचय मिलता है ।

यदि ग्लेडस्टोन और टिण्डल जैसे विद्वान् अपने धर्मग्रन्थ इंजील को ईश्वरीय वचन और मसीह को ईश्वर का पुत्र बल्कि स्वयं उसको ईश्वर मान सकते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है कि गीता के भिन्न-भिन्न लेखकों मे से किसी ने कृष्ण महाराज को अवतार की पदवी दे दी । चाहे वह इसी अभिप्राय से हो कि जो कुछ वे उपदेश करना चाहते थे उसका आदर हो और वह सर्वथा प्रामाणिक वचन माना जाये । चाहे वह वास्तव में कृष्ण महाराज को अवतार ही मानते थे अथवा नहीं । क्या यह आश्चर्य नहीं है कि गीता के अतिरिक्त और किसी प्राचीन पुस्तक या आर्य ग्रन्थ में न तो साधारणतः अवतारों का वर्णन है और न कृष्ण महाराज के अवतार होने का, क्योंकि पुराणों के विषय में तो हम भूमिका में प्रमाणित कर ही चुके है कि वे वर्तमान समय के कुछ ही पहले के बने हुए हैं । इसलिए केवल उनके आधार पर नही कहा जा सकता कि प्राचीन आर्य लोग परमेश्वर को अवतार मानते थे या कृष्ण महाराज को ऐसा मानते थे ।

पैंतीसवाँ अध्याय

कृष्ण महाराज की शिक्षा

यह शब्द (कृष्णाइज्म) उन अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुओं की गढ़ंत है जो अंग्रेजी शिक्षा पाकर भी पौराणिक हिन्दूमत के उस भाग को मानते हैं जिसको हिन्दुओं की बोलचाल में वैष्णव धर्म कहा जाता है। शायद सारे संस्कृत साहित्य में कोई शब्द ऐसा न मिलेगा जो ईसाई मत, मुहम्मदी मत और बौद्ध धर्म की तरह श्रीकृष्ण के नाम के साथ किसी मत या धर्म का संबंध सूचित करता हो। अंग्रेजी जानने वाले कृष्णभक्तों ने संस्कृत साहित्य की इस कमी को पूरा करने की कोशिश मे कृष्ण के नाम पर एक मत की नींव डाली है जिसको वह कृष्णाइज्म कहकर पुकारते हैं। परन्तु संस्कृत साहित्य के साधारण अन्वेषण से तो यही ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ने किसी मत की नींव डालने का साहस नहीं किया और न उन्होंने किसी ऐसे धर्म की शिक्षा दी जो उचित रीति से उनके ही नाम से जगत् में प्रसिद्ध हो। हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद और महात्मा बुद्ध इन तीनों महापुरुषों ने एक नवीन धर्म की नींव डाली और इसलिए उनके मत या धर्म उनके नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। यद्यपि अर्वाचीन समय के बहुतेरे हिन्दू सम्प्रदाय भी इसी प्रकार किसी-किसी महापुरुषों के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु प्राचीन संस्कृत साहित्य में इस तरह का कोई प्रमाण नही है। कृष्ण के समय के साहित्य में तो इस प्रकार का नाम-निशान ही नहीं हैं। प्राचीन हिन्दूमत में यही तो एक बड़ी विलक्षणता है कि उसकी नींव किसी मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा के आधार पर नहीं डाली गई है।

यदि सच पूछो तो प्राचीन हिन्दू साहित्य संसार के धर्मिक तत्त्व की आत्मा है। यह साहित्य इस प्रकार के अमूल्य धार्मिक तत्त्वों से परिपूर्ण है। इसके समान उच्च विचार दुनिया के और किसी साहित्य में दिखाई नहीं देते। इस पर भी तुर्रा यह कि इन विचारों को प्रकट करने वाले महापुरुषों ने अपने नाम का कोई भी चिह्न नहीं छोड़ा जिससे आप यह निश्चित कर सकें कि यह विचार और यह शिक्षा अमुक महापुरुष की थी। हमारे महापुरुषों में से किसी ने नवीन शिक्षा देने की चेष्टा नहीं की किन्तु सबके सब अपने आपको वेदोक्त ब्रह्मविद्या का अनुयायी बतलाते रहे। किसी ने नाम मात्र के लिए भी ऐसा साहस नहीं किया कि यह विचार मेरे हैं और मै इनको फैलाने के लिए संसार में आया हूँ। मेरे पहले यह विचार किसी के ध्यान में नहीं आये थे या मुझे विशेष रूप से यह ज्ञान स्वयं प्राप्त हुआ है। कभी किसी ने कोई नवीन मत प्रचारित करने का विचार नहीं किया। उपनिषदों और ब्राह्मणों का समस्त क्रम हमारे इस कथन का साक्षी है। उपनिषदों की अद्वितीय धार्मिक शिक्षा से यह कदापि लक्ष्य में नहीं आता कि इस शिक्षा का आचार्य कौन था और इन अमूल्य उक्तियों के लिए वे किस महापुरुष के चिर ऋणी है

कहा-कही इतिहास इत्यादि में ऋषियो, मुनियों तथा आचार्यों के नाम आते है, परन्तु उनके वर्णन मे क्रम से यह भी मालूम होता है कि एक ही नाम के बहुत-से ऋषि हो चुके हैं--जैसे आज हमारे लिए यह निश्चित करना असंभव है कि वर्तमान मनुस्मृति कौन-से मनु महाराज की रचना है ? प्राचीन आर्य लोग परमेश्वर को ही आदि गुरु और सच्चा उपदेशक मानते थे इसलिए उन्होने कभी इस बात की चेष्टा नहीं की कि वे अपने नाम से कोई धर्म प्रचलित करें । उनके लेखों से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के कार्य को ये अधर्म और पाप समझते थे । धर्मचर्चा धार्मिक विचार और वादानुवाद करना तो वे उचित समझते थे, परन्तु अपने नाम से किसी नवीन धर्म का प्रचार करना या कोई नवीन शिक्षा देना उनके विचार से सर्वथा अनुचित था ।

प्राचीन हिन्दुओं के सब आचार्य, ऋषि या मुनि जो कुछ शिक्षा देते थे उसको वे अपने पूर्व पुरुषो, वेद या शास्त्रों का आदेश बतलाते थे । अपनी तरफ से कोई नवीन शिक्षा देने का साहस उन्होंने कदापि नहीं किया । बस वर्तमान समय में हमारी तरफ से यह प्रयत्न हुआ कि हम उनमें किसी एक को चुनकर उसी के नाम से किसी मत को जारी कर दें । यह सचमुच उनके महत्त्व को कम करना है । इस पर भी तुर्रा यह है कि हमारी यह कार्यवाही एक ऐसे वीर क्षत्रिय राजपुत्र के साथ संबंध रखे जिसने कभी भी धर्म-प्रचार की चेष्टा ही नहीं की । हम पिछले परिच्छेद में कह चुके हैं कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि कभी कृष्ण महाराज ने सर्वसाधारण को धार्मिक शिक्षा देने की चेष्टा की हो । तब कृष्ण को किसी धर्म का व्यवस्थापक मानना व्यर्थ है । हम बतलाना चाहते हैं कि भगवद्गीता की सब युक्तियों को कृष्ण महाराज की शिक्षा समझना उचित नहीं । परन्तु विचार के लिए यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो भी परिणाम तो यही निकलता है कि उन्होंने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए वह उपदेश किया, जो गीता में है । यदि इसी उपदेश के कारण कृष्ण महाराज एक धर्म-विशेष के व्यवस्थापक माने जा सकते हैं तो क्या कारण है कि भीष्म महाराज को भी वही पदवी न दी जावे जिनके उपदेश कृष्ण महाराज के उपदेशों से गूढ़ता, विद्वत्ता, सत्यता और तात्त्विकता मे किसी प्रकार कम नहीं है ? क्या कोई हमको बतला सकता है कि भगवद्गीता मे कौन-सी ऐसी शिक्षा है जो उससे पहले के बने हुए उपनिषदों और ब्राह्मणों में उपस्थित नहीं है या जो वेदों मे भी पाई नहीं जाती ? तब वह कौन-सी शिक्षा है जिसे हम कृष्णाइज्म के नाम से प्रसिद्ध करे ? सिवाय इसके कि हम उन बातों को कृष्णाइज्म कहें जो श्रीमद्भागवत या ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में भरी हुई हैं और जिससे कृष्ण महाराज का पवित्र जीवन कलंकित किया जाता है । लेकिन श्रीमद्भागवत की शिक्षा को कृष्णाइज्म के नाम के सम्बोधन करने से तो कृष्ण महाराज का कुछ यश नहीं होगा । हमारे विचार से तो श्रीमद्भागवत की शिक्षाओं को कृष्ण महाराज के सिर मढ़ना सर्वथा अनुचित है क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों से यह कदापि प्रमाणित नहीं होता कि कृष्ण महाराज ने कभी ऐसी शिक्षा दी, जैसी श्रीमद्भागवत में पाई जाती है ।

स्पष्ट तो यह है कि हमारे विचार में कृष्ण महाराज ने कोई ऐसा मत नहीं चलाया जिसको हम उनके नाम से प्रसिद्ध करें । इसलिए शब्द कृष्णाइज्म का प्रयोग ही अशुद्ध और अनुचित है । यदि कृष्णाइज्म से उन्हीं उपदेशों का अभिप्राय है जो कृष्ण महाराज ने अर्जुन तथा अपने

दूसरे सम्बन्धियों को यथासमय दिये और जिनमें प्राचीन वेद ग्रन्थों के निष्काम कर्म दर्शन पर जोर दिया गया है, तो कुछ हानि नहीं है क्योंकि कृष्ण नाम किसी विशेष धर्म का नहीं है जिसे कृष्ण महाराज ने चलाया हो। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि निष्काम धर्म का जैसा प्रभावोत्पादक उपदेश कृष्ण महाराज के वाक्यों में मिलता है वैसा और किसी ऋषि-मुनि के उपदेश में नहीं मिलता। भगवद्गीता के पृथक्-पृथक् अध्याय यद्यपि भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे हुए है परन्तु सबका सारांश एकमात्र निष्काम धर्म की शिक्षा ही है। महाभारत मे भी कृष्ण महाराज के भिन्न-भिन्न वाक्यों मे निष्काम धर्म सबसे प्रधान है, उनकी प्रत्येक बात का मर्माशय यही है। भिन्न-भिन्न रीतियों से भिन्न-भिन्न प्रणाली मे धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों की व्याख्या करते हुए प्राय: प्रत्येक युक्ति का अंत निष्काम धर्म की प्रधानता पर होता है। भगवद्गीता के प्रत्येक अक्षर में निष्काम धर्म का राग अलापा गया है। न केवल उनके वचनो में, वरन्‍ उनके कर्म और उनके व्यवहार में भी इसी शिक्षा का असर दिखाई देता है, जिससे हम यह कह सकते है कि झूठे त्याग और वैराग्य का खण्डन करते हुए निष्काम धर्म की प्रधानता को फैलाना और निष्काम दर्शन की व्याख्या करना यही कृष्ण महाराज के जीवन का उद्देश्य था और यही हमको उनके वचनों में जगह-जगह दिखाई देता है। जहाँ कहीं कभी उनको धार्मिक व्यवस्था देने की आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने इसे सिद्धान्त बनाकर उसी के अनुसार अपना न्याय किया। इस शिक्षा का अनुकरण करना ही उन्होंने मनुष्य मात्र के जीवन का उद्देश्य ठहराया। इसी पर कार्य करने के लिए वह उन सब लोगों को प्रेरणा करते थे जिनका किसी-न-किसी प्रकार से उनसे संबंध रहा। मित्रों की संगति मे, सबंधी व रिश्तेदारो के व्यवहारो में, अपने सेवकों तथा भक्तजनों के प्रश्नों के उत्तर मे, राजसभाओं में, यज्ञादि तथा अन्यान्य धार्मिक कृत्यों के अवसर पर तथा शत्रुओं से युद्ध के समय, तात्पर्य यह कि जीवन की घटनाओं और हर बात पर उन्होंने इसी शिक्षा को अपना प्रधान लक्ष्य नियत कर लिया था। अंत में मृत्यु के समय जिस बधिक के बाण से वे घायल हुए, उसे भी इसी निष्काम धर्म का उपदेश करते हुए स्वर्ग को पधारे।

पाठको! अब हम संक्षेप से यह बतलाना चाहते है कि कृष्ण महाराज की संपूर्ण शिक्षा का सारांश हमको भगवद्गीता के दूसरे अध्याय तथा महाभारत के कतिपय श्लोकों में प्राप्त होता है। कृष्ण महाराज की शिक्षा के अनुसार मनुष्य-जीवन का मुख्य उद्देश्य भगवद्गीता के अध्याय दूसरे में वर्णित किया गया है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्‌ ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ 64
प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धि: पर्य्यवतिष्ठते ॥ 65

अर्थ—जो मनुष्य इन्द्रियो को वश में करके राग-द्वेष रहित हो इन्द्रियो के विषयों[1] मे

1. इन्द्रियों के विषय मे आचरण करने से तात्पर्य यह है कि इन्द्रियो से वह काम लेता है जिस काम करने के लिए प्रकृति ने उनको बनाया है- जैसे आँख से देखना, कान से सुनना, नाक से सूँघना इत्यादि।

आचरण करता है और इसलिए शुद्ध अन्तःकरण रखता है वही प्रसाद अर्थात् आनन्द को प्राप्त हो सकता है ॥64॥

अर्थ—इसी आनन्द में सब दुखों का नाश हो जाता है अर्थात् सब दुःख दूर हो जाते है । अस्तु, स्थिर बुद्धि वही मनुष्य है जिसका मन आनन्द से परिपूर्ण है ॥65॥

प्रश्न—स्थिर बुद्धि होने का क्या फल है ?

उत्तर—परम पद की प्राप्ति अर्थात् मुक्ति ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥51॥

अर्थ—मुनि लोग बुद्धि योग को प्राप्त कर कर्मों के फलों को यहाँ ही त्याग देते है और जन्म के बंधनों से मुक्त होकर उस पद को प्राप्त करते हैं जिसमें कोई व्याधि नहीं, अर्थात् अमृतमय मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥51॥

इसलिए कृष्ण महाराज का वचन है—

योगस्थः कुरु कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमोभूत्वा समत्वंयोग उच्यते ॥48॥

अर्थ—हे धनंजय (अर्जुन) ईश्वरीय इच्छा मे योग करता हुआ तू राग का त्याग कर । सिद्धि और असिद्धि को एक-सा जानकर तू कर्मों को कर, क्योंकि इसी समता का नाम योग है ॥ 48॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥47॥

अर्थ—न तुझे कर्मों से मतलब है न उनके फलो से । अस्तु, कर्मों के फल को अपना उद्देश्य मत बना और न अकर्म की अवस्था से दिल लगा (अर्थात् न दिल में यही ठान ले कि कर्म नहीं करना चाहिए) । हे अर्जुन, सुख-दुख, हानि-लाभ और हार-जीत को एक-सा समझकर लड़ाई के लिए कमर बॉध, क्योंकि उसी से तू पाप से बच सकता है ॥47॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥38॥

तीसरे अध्याय के 8वें श्लोक में फिर यही बात दोहराई गई है ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥8॥

अर्थ—अस्तु, तू सत्य कर्म कर क्योंकि कर्म करना अकर्म से कहीं उत्तम है । बिना कर्म किये तो शरीर-यात्रा भी नहीं हो सकती ॥8॥

श्लोक 15 में बतलाते हैं कि यह कर्म किस तरह जाना जाता है ।

कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥15॥

अर्थ—कर्म वेद से जाना जाता है और वेद उस अनादि परमेश्वर के बनाये हुए हैं । 15

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममोभूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः ।।30।।

अर्थ—समस्त कर्मो को परमात्मा के अधीन करके, इसी पर अपने सब विचारों को निर्भर रखते हुए आशा और आत्माभिमान को छोड़कर तथा इस विचार के संताप से मुक्ति पाकर तू युद्ध करने पर कटिबद्ध हो । चौथे अध्याय मे भी इसी तरह कर्म और अकर्म, उचित और अनुचित कर्मों का तत्त्व वर्णन किया है ।

पॉचवें अध्याय के श्लोक में फिर यही उपदेश आता है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेनः पद्मपत्रभिवाम्भासा ।।10।।

अर्थ—जो सब कर्मो को ब्रह्म परायण करके बिना मोह के कर्म करता है वह पाप में नही फॅसता, जैसे कि कमल के पत्ते पर पानी का कोई चिह्न नहीं होता ।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगंत्यक्त्वात्मशुद्धये ।।11।।

अर्थ—मोह को छोड़कर शरीर से, मन से, बुद्धि से और इन्द्रियो से भी योगी अपनी आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं । छठे अध्याय के पहले श्लोक में तो बिलकुल साफ लिख दिया है ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।1।।

अर्थ—संन्यासी और योगी वही है जो कर्मों के फल की परवाह न करता हुआ कर्म को कर्तव्य समझकर करता है, न कि वह जो कभी आग नहीं जलाता और कुछ कर्म नही करता । श्लोक 16 में फिर कहा है कि—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
नचाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।16।।

अर्थ—हे अर्जुन, योग उसके लिए नहीं है जो अधिक खाता है या जो बहुत ही कम खाता है और न उसके वास्ते है जो बहुत सोता है या बहुत जागता है ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।17।।

अर्थ—दुख नाश कर देने वाला योग उसके लिए है जो नियम से खाता है, नियम से सोता है और जागता है, और नियम से ही सब काम करता है ।

नवें अध्याय के 27वें श्लोक में फिर लिखा है ।

यत्करोषियदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।27।।

अर्थ—सब कर्मों को ईश्वर परायण होकर करने का उपदेश किया है हे कुन्तीपुत्र जो कुछ तू करे जो कुछ तू खाये जो कुछ तू भट करे जो कुछ तू दान करे अथवा जो तू उप

करे वह सब मेरे अर्पण कर ।

सोलहवे अध्याय मे फिर इसी विषय को आर भी साफ कर दिया है ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥23॥

अर्थ—जो पुरुष शास्त्रों की आज्ञा का उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार आचरण करता है उसको न सिद्धि प्राप्ति होती है, न सुख और न सच्चा मार्ग ही मिलता है ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥24॥

अर्थ—इसलिए उचित है कि शास्त्रों के प्रमाण से यह निश्चय किया जावे कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए । शास्त्र विधि को जानकर ही इस संसार मे कर्म करना चाहिए ।

अध्याय 17 और 18 मे कर्मकाण्ड के दर्शन को और अधिक विस्तार से वर्णन किया है । तात्पर्य यह कि इस विषय में सारी गीता का तत्त्व यही है जो निम्नलिखित प्रमाणों में पाया जाता है । जब हम यह विचार करते है कि इन सारे उपदेशों से असल मतलब भी यही था कि अर्जुन को लड़ाई के लिए कटिबद्ध किया जावे, तो हमारा यह विचार अंतिम सीमा पर पहुँच जाता है कि वास्तव में यही वह उपदेश है जो कृष्ण महाराज ने कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को दिया । सम्भव है इसकी व्याख्या में धर्म के अन्यान्य अंग भी किसी प्रकार वर्णन किये गये हो, परन्तु यह विचार मे नही आ सकता कि गीता के सारे दर्शन की उस समय शिक्षा दी गई हो ।

महाभारत में भी जहाँ कृष्ण को वार्तालाप करने का अवसर मिला है वहाँ भी उन्होने इसी रीति से अपनी युक्तियों का वर्णन किया है । महाभारत का युद्ध समाप्त होने के पश्चात् जब युधिष्ठिर ने राजपाट छोड़कर जंगल को जाने की इच्छा की तो फिर कृष्ण महाराज उसी उपदेश से युधिष्ठिर को प्रवृत्ति मार्ग पर लाये, यहाँ तक कि उन्हें अश्वमेध यज्ञ करने को उत्साहित किया । युधिष्ठिर को समझाते हुए कृष्ण ने कहा—'हे युधिष्ठिर, यद्यपि तुमने बाहरी शत्रुओ को मार लिया है, परन्तु अब समय आ गया है कि तुम उस लड़ाई के लिए तैयार हो जाओ जो प्रत्येक पुरुष को अकेले ही लड़नी पड़ती है । अर्थात् अपने मन से ही इस अपार और अथाह मन की महिमा जानने के लिए कर्म और ध्यान के हथियार बर्तने पड़ेंगे, क्योकि इस लड़ाई मे लोहे के हथियार काम नही देंगे और न मित्र या सेवक ही कुछ सहायता कर सकेंगे । यह लडाई तो अकेले ही लड़नी पड़ेगी । इसमे यदि तुम उत्तीर्ण नहीं हुए तो तुम्हारा बुरा हाल होगा ।'

फिर आगे कहते हैं—

"राजपाट इत्यादि बाह्य पदार्थो के त्याग से मुक्ति नहीं होगी, परन्तु उन चीजो के छोडना होगा जो तुमको शरीर के साथ बाँधती है । वह पुण्य और सुख हमारे शत्रुओं के ही भाग्य मे रहे जो लोग पदार्थों का त्याग तो करते हैं परन्तु भीतरी इच्छाओ और निर्बलताओं में फँसे रहते है असल मृत्यु इसी का नाम है कि मनुष्य सासारिक पदार्थों में लिप्त हुआ मेरी और तेरी

की पहचान में ही गुथा रहे । वह पुरुष दुनिया की क्या परवाह करेगा जो सब पृथ्वी का चक्रवर्ती राज्य रखता हुआ भी अपने मन में मोह नहीं रखता और नहीं इसके भोग से ही मोहित होता है । परन्तु वह पुरुष जो दुनिया को त्यागकर जंगल में साधु वेष बनाकर, जंगली कन्दमूल का भोजन करता हुआ भी दुनियावी पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा रखता है और इनकी ओर दिल लगाता है, तो वह मानो मृत्यु को हर वक्त अपने मुँह में ही लिए फिरता है । इसलिए तुमको उचित नहीं है कि अपने कर्तव्य को पूर्ण रीति से किये बिना तुम त्याग का विचार करो । असल त्याग इसी में है कि मनुष्य का मन इसके वश में हो और अपनी सब इच्छाओं पर उसका पूर्ण अधिकार हो । ऐसा पुरुष संसार में रहता हुआ राज्य करता हुआ भी पूरा त्यागी और अपने दिल का बादशाह है ।"

वाह ! क्या शब्द हैं । शब्द है या मोती हैं जिनका रूप, रंग और जिनकी चमक-दमक के सामने अच्छी से अच्छी और तीव्र से तीव्र दृष्टि वाली आँख भी नहीं ठहर सकती । नहीं नहीं ये मोती नहीं ! मोती तो मिट्टी है । उनसे न तो भूखे की भूख मिट सकती है, न प्यासे की प्यास बुझ सकती है, न शोकाकुल का शोक दूर हो सकता है और न उदास की उदासी कम हो सकती है ! बहुमूल्य से बहुमूल्य मोती रखते हुए भी आदमी दु:ख, दर्द और क्लेश से छुट्टी नहीं पाता । महमूद गजनवी के पास क्या मोतियों की कमी थी और रूस के जार[1] के पास क्या मोती कम हैं ? लेकिन क्या कोई कह सकता है कि मोतियों के कारण महमूद को सुख मिला या जार इन मोतियों के कारण सुखी है ? सच तो यह है कि यदि तमाम दुनिया की दौलत, सोना, चाँदी, हीरे, मोती, जवाहरात आदि इकट्ठे कर लिए जावें तब भी इनका मूल्य इन शब्दों और इन विचारों के मूल्य से कहीं कम है । यह वह अमृत है जिसकी तलाश में मोतियों वाला सिकंदर आजम मर गया । यह वह संजीवनी बूटी है जिसको पाने के लिए दुनिया के बड़े-से-बड़े राजा-महाराजा तड़पते हुए मर गये । यह वह अमृत है जिसको पीकर मनुष्य मरन-जीने के दु:ख से छूट जाता है और जिसको प्राप्त करके मोती मिट्टी दीख पड़ते हैं । यह वह नुस्खा है जिससे दु:ख, बीमार की बीमारी, बेचैन की बेचैनी और व्याकुल, अशान्त आत्मा की व्याकुलता और अशान्ति इस तरह भाग जाती है जैसे मनुष्य की बास पाकर जंगली हिरन भाग जाता है ।

यही वह ज्ञान है जो मनुष्य के लिए इस दु:ख-सागर-संसार को शान्ति-सरोवर और सुख का धाम बना देता है । जो इसको सब बंधनों से छुड़ाकर केवल एक प्रभु के चरणकमल पद को प्राप्त कराता है, जहाँ पहुँचकर जीवात्मा आनन्द ही आनन्द में विश्राम करता है ।

पाठको ! क्या आप समझे । यह वह शिक्षा है जो हमको बताती है कि ड्यूटी (कर्तव्य) ड्यूटी के ही लिए करना चाहिए । यह वह शीशा है जो हमको धर्म का सच्चा स्वरूप दिखाता है और समझाता है कि धर्म करने के वास्ते और कोई गरज नहीं होनी चाहिए । इसके अतिरिक्त वह धर्म है या ईश्वराज्ञा है या उस परमात्मा का नियम है, जिसके नियमों में सर्वशक्तिमान् होने

---

1 1917 की साम्यवादी क्रान्ति के पहले रूस के शासक जार कहलाते थे । जब यह पुस्तक लिखी गई उस समय रूस पर जार का ही राज्य था । —सम्पादक

मेरी खातिर हो और मेरे अर्पण हो ।

धर्म अपने साम्राज्य मे किसी को साझीदार नही बनाता और न अपने राज्य में किसी दूसरे को अपने बराबर का आसन देता है । तात्पर्य यह कि वह स्वयं सर्वशक्तिमान् होना चाहता है । किसी का संग उसे किसी प्रकार स्वीकार नहीं और न उसको यह हक है कि उसके भक्त को उसकी आज्ञापालन में जरा भी सोच-संकोच हो । अस्तु, धार्मिक वही हो सकता है जो धर्म की आज्ञा पालने मे न सिर की परवाह करे न पैर की, न तन की परवाह करे और न धन की । कृष्ण महाराज की आज्ञानुसार जो खाता है तो इसलिए कि उसकी आज्ञा है, पीता है तो इसलिए कि उसकी आज्ञा है, दान देता है तो इसलिए कि उसकी इच्छा है, यज्ञ करता है तो इसलिए कि इसमे उसकी प्रसन्नता है । ऐसा ही पुरुष धर्मपरायण हो सकता है और ऐसा पुरुष ही दूसरों को धर्मपरायण होने की शिक्षा दे सकता है । खेद है कि इस देश में न अब धर्म है और न कोई धर्म परायण है । इसी वास्ते यह अभागा देश और इस देश के रहने वाले तरह-तरह की आपत्तियों में फँसते हैं । प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार धर्म का मनमाना स्वरूप बना लेता है और उस अपनी बनाई हुई तस्वीर की पूजा से मुक्ति पाने की इच्छा करता है । केवल इतना ही नही करता, औरों को भी उस तस्वीर की तरफ खींचता है और यही पुकारता है कि मेरे कथन पर जो संदेह करे वह काफिर है । परन्तु यदि प्राचीन समय के धर्मपरायण लोगों की साक्षी देखें तो पता चलेगा कि धर्म वेदों से मिलता है । वेद इस समय बहुत कठिन है क्योंकि इनके अर्थों का द्वार बंद है और इस महान् पवित्र विषय में बुद्धिहीन तथा संकीर्ण हृदय मनुष्य का प्रवेश ही नहीं है । हम लोग तो उस महान् द्वार की कुण्डी भी नहीं खोल सकते, फिर इसमें बैठकर उसका रसास्वादन बहुत दूर है ।

प्रश्न—तो क्या हमारा रोग असाध्य है और इसकी कोई औषधि ही नहीं ?

उत्तर—इसके अतिरिक्त और कोई औषधि नहीं कि हम धर्म के तत्त्वों की खोज करें जो धर्म के पार्श्ववर्ती हैं ।

प्रश्न—वह क्या है ?

उत्तर—देखो भगवद्गीता अध्याय 16 के श्लोक 1, 2, 3

(1) अभय (सिवाय परमेश्वर के और किसी से न डरना) (2) मन की शुद्धि (3) बुद्धि योग में स्थिरता (4) दान (5) दम (अपनी इन्द्रियों को वश मे करना) (6) यज्ञ (धार्मिक कर्म) (7) स्वाध्याय (शास्त्रों का पठन पाठन) (8) तप (9) अहिंसा (धर्म के विरुद्ध किसी को हानि न पहुँचाना) (10) सत्य (11) क्रोध का दमन (12) त्याग (13) शांति (14) वीरता (15) दृढ़ता (16) क्षमा ।

हमारा यह कर्तव्य होना चाहिए कि ईश्वर के उस दरबार में जाने के लिए धर्म के निकटवर्ती लोगों से सहायता पाने की प्रार्थना करें और उचित मार्ग से उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर उनके पूरे कृपापात्र बनें ।

धर्म हेतु धर्म करना प्रत्येक जीवात्मा का लक्ष्य है । इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बहुत-से पड़ावों को पार करना पड़ता है । इन पड़ावों में से किसी एक पड़ाव को अपने जीवन

का उद्देश्य बनाना ही प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है । इस कर्तव्य को जिसने समझ लिया, वह सीधे रास्ते पर पड़ गया । फिर उसको उचित है कि वह अपनी प्रकृति का सारा ज़ोर इस पड़ाव के पार करने में खर्च करे और किसी दूसरे विचार को अपने रास्ते में बाधक न होने दे ।

यूरोप का एक राजनीतिक महापुरुष लिखता है कि निष्फलता, हतोत्साह और निराशा तथा इसी तरह की दूसरी आपत्तियों ने एक समय मुझे इतना घबरा दिया जिससे मेरे मन मे यह सदेह पैदा हो गया कि मैं गलती पर हूँ और मैंने सहज, स्वेच्छा व स्वबुद्धि ही से वह कार्य आरम्भ किया जिसके परिणामस्वरूप मै सैकड़ों जीवों के रक्तपात का अपराधी बना । अस्तु, इस विचार ने मुझे ऐसा घेरा कि मैं विक्षिप्तों की भाँति काम करने लगा । मेरा जीवन भार हो गया और मैंने कई बार आत्महत्या करने की इच्छा की । रातें बेचैनी मे बीतने लगीं । किन्तु एक दिन प्रातःकाल सूर्य की रोशनी के साथ ही ज्ञान की प्रभा भी दृष्टिगोचर हुई । सोचते-सोचते मैंने यह निश्चय किया कि मैंने जो काम आरंभ किया है वह तो आत्मश्लाघा या स्वार्थबुद्धि का परिणाम नही है, परन्तु यह दशा जो मैंने अपने लिए मान रखी है, यह मेरी बुद्धि का ही परिणाम है । अन्यथा मुझे क्या अधिकार है कि मैं कर्तव्य-पालन में केवल हतोत्साह और निराशा के सामने आने के कारण से यह निष्कर्ष निकालूँ कि मै गलती पर हूँ । अस्तु, मैंने अपनी परीक्षा लेना आरंभ की और सोचने लगा कि मैंने मनुष्य-जीवन को क्या समझा है ? समस्त ज्ञान-विज्ञान इसी पर निर्भर है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य क्या है ?

भारतवर्ष के प्राचीन धर्म ने ध्यान को ही जीवन का उद्देश्य माना है, जिसका फल यह हुआ कि हिन्दू मात्र इतने सोये कि फिर किसी काम के योग्य ही न रहे और आर्य संतान अपने ईश्वर मे लीन हो गई ।

दूसरी तरफ ईसाई मत ने जिन्दगी को बोझ समझा और यह निश्चय किया कि दुनिया के सब दुःख और चिन्ताओ को संतोष तथा प्रसन्नता से सहन करना चाहिए तथा उनसे बचने का उद्योग नहीं करना चाहिए । उन्होंने इस विचार से दुनिया को दुःख-मंदिर माना है । इनके नियम के अनुसार मुक्ति इसी से मिल सकती है कि हम दुनिया की सब चीजों को तुच्छ दृष्टि से देखे और उनकी कुछ परवाह न करें ।

अठारहवीं सदी के प्राकृतिक दर्शन ने जीवन को सुख और आनन्द का स्थान मान लिया है । इसका परिणाम यह हुआ भिन्न-भिन्न स्वरूपों में मनुष्यों में स्वार्थबुद्धि का विचार इतना बलवान हो गया कि उसे नियमों की परवाह ही न रही । प्रत्येक पुरुष अपने ही लाभ और स्वार्थ के ध्यान मे निमग्न है ।

सिद्धान्त और सचाई के लिए बलिदान करने का विचार इतना कमजोर हो गया कि लोग जरा-सी तकलीफ या थोड़ी-सी निष्फलता से अपने सिद्धान्तों को पैरों में कुचल डालते हैं और अपनी इच्छा को बदलकर उस काम को छोड़ देते है जिसको उन्होंने किसी उद्देश्य के पालन के लिए आरम्भ किया था ।

मैंने सोचा कि यद्यपि मुझको जिन्दगी के इस दर्शन से नफरत है और मेरा दिल उन विचारों पर आरूढ़ नहीं है, तब भी मेरी आत्मा इन्हीं ख्यालों की शिकार हो रही है ।

मै जिन्दगी के उद्देश्य को अपनी जिन्दगी के आराम व कष्ट से, सिद्धि व असिद्धि से लोगो की प्रीति व अप्रीति तथा योग और वियोग के विचारों से ही जाँचता हूँ ।

दु:ख है कि अपने ही कर्म से मै अपने इस विश्वास को जवाब दे बैठा कि नर-देह तो क्षणिक है और भिन्न-भिन्न जीवन में इस प्रकार उन्नति करता है जैसे कोई आदमी इस विश्वास से एक बहुत ऊँचे पहाड़ पर चढ़ता जावे मानो वहाँ ईश्वर बैठा है और वहाँ पहुँचने पर उसके दर्शन मिलेंगे । आत्मा के भिन्न-भिन्न जीवन तो वास्तव में एक ही लड़ी के दाने हैं जिनसे आत्मा शनै-शनै: प्रकाश पाता हुआ उन्नति करता है ।

प्रत्येक जीवन का एक-न-एक लक्ष्य होता है अन्यथा जीवन का अर्थ ही क्या होगा ? इसके अतिरिक्त जो लोग जीवन शब्द का दूसरा अर्थ लगाते हैं वे अपने ठीक रास्ते से भूले हुए है । वह जीवन ही क्या जिसका कोई लक्ष्य या उद्देश्य न हो । अतएव जिन्दगी का एक मुख्य उद्देश्य नियत करके फिर वह लिखता है कि इस प्रधान लक्ष्य के अन्तर्गत प्रत्येक जीवन की कोई वासना होती है जो इसकी विशेष अवस्था पर निर्भर होती है परन्तु जिसका स्वभाव भी उसी लक्ष्य की प्राप्ति है, जो प्रत्येक जीवात्मा का अंतिम लक्ष्य है । कुछ मनुष्यों के जीवन का अभिप्राय यह होगा कि वह अपने इर्द-गिर्द के लोगों के आचार और व्यवहार को सुधारे अर्थात् अपनी जाति की शिक्षा को सुधारें ।

जो लोग इनसे भी अधिक उन्नतिशील हैं वे अपनी जाति मे जातीयता के विचार को फैलाने की चेष्टा करें या धार्मिक और राजनीतिक उन्नति का बीड़ा उठावें । येन केन प्रकारेण यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि जीवन एक मिशन है और कर्तव्य या उसका धर्म उसके लिए अच्छे से अच्छा नियम है । प्रत्येक पुरुष की उन्नति इस पर निर्भर है कि वह अपनी जिन्दगी के मिशन को समझकर उसके अनुसार ही अपना कर्तव्य-पालन करे, क्योंकि इसी कर्तव्य को पालन करने या न करने पर यह बात भी निर्भर होगी कि इस जीवन के अन्त होने पर फिर उसको किस प्रकार का जीवन मिलेगा । प्रत्येक पुरुष को स्वयं यह अधिकार है कि वह अपने कर्मो द्वारा अपने भाग्य का निर्णय करे । हममें से प्रत्येक पुरुष का यही कर्तव्य है कि अपनी आत्मा को साफ और पवित्र बनाकर उसी को अपना ध्यान-मंदिर बनावे । स्वार्थ से उसे पृथक् कर बहुत गम्भीर विचार से अपने जीवन का उद्देश्य नियत करे और अपनी अवस्था के अनुभव से यह भी निश्चय करे कि उसके देश या उसकी जाति मे किस बात की विशेष आवश्यकता को वह अपनी अवस्था या योग्यता के अनुसार किस तरह और किस कदर पूरा कर सकता है । इस तरह से अपने उद्देश्य को लक्ष्य करके फिर उसको पूर्ण करने में लग जावे और फिर जन्म-भर उस काम से न हटे, चाहे उसको दु:ख हो या सुख, कामयाबी या नाकामयाबी, उसको दूसरों से मदद मिले या न मिले ।

यदि इस यूरोपियन महापुरुष के हाथ मे गीता होती तो न तो वह आर्यों के धर्म के विषय मे गलत विचार बनाता और खुद उसको जीवन के सदाचार को, दर्शन को नियत करने मे इतनी दिक्कत न होती जितनी कि हुई । उसकी पैदाइश से हजारों वर्ष पहले एक आर्य महापुरुष ने यही शिक्षा दी थी जिसका प्रकाश उस पर हुआ उसके लिए तो यह प्रकाश अचानक और

बेजोड था, परन्तु प्राचीन आर्य साहित्य मे यह शिक्षा एक श्रृंखला की कडी मात्र थी और यही वैदिक धर्म का बुनियादी पत्थर है । यही महापुरुष अपने इस लेख में एक यूरोपियन कविता का हवाला देता है, जिसका अर्थ यह है :

"फौलाद हमारी आँखों के सामने डरावनी सूरत में चमकता है और रास्ते में कदम-कदम पर आपत्ति हमारी बाट देखती है, मगर तो भी लॉर्ड कहता है, बढ़े चलो ! बढ़े चलो ! दम न लो । हम पूछते हैं कि हुजूर यह तो बतावें कि हम किधर जा रहे है ? जवाब मिलता है कि अय लोगो, मरना तो है ही (फिर डरना क्या) आगे बढ़ो और मरो । अय लोगो, जहमत तो उठाना ही है (फिर डरना क्या) आगे बढ़ो और जहमत उठाओ ।"

पाठको, आपने भगवद्गीता को पढ़ा या सुना, आपने महाभारत को देखा या पढ़ा, क्या यही उपदेश महाराज कृष्ण का नहीं है कि हे अर्जुन, तुम याद रखो, शरीरधारी मनुष्य मात्र को मरना तो अवश्य ही है, फिर मरने और मारने से क्या डरना । उठो और युद्ध करो, न मरने से डरो और न मारने से, जो तुम्हारा धर्म है उसका पालन करो ।

सच तो यह है कि सच्चा धार्मिक वही पुरुष हो सकता है जो इस तरह अपने धर्म के लिए न मरने से डरे और न मारने से । जिसकी नजरों में इस धर्म के सामने दुनियादारी की सब बातें तुच्छ हैं ।

हे मेरे स्वजातीय भाइयो, अपने हृदय पर हाथ रखो और सोचो कि इस नियम के अनुसार हमारी जाति में कितने धर्मात्मा है और कितने ऐसे है जो इस उद्देश्य की पूर्ति में धर्मात्मा बनने के इच्छुक हैं ?

क्या आजकल हमारी जाति का और हमारा धर्म आराम का धर्म नहीं है ? हममें से कितने लोग हैं जो अपने कर्तव्य और अपने धर्म के हेतु सब तरह के झंझट और दु:ख उठाने के लिए तैयार हैं ? क्या सैकड़ों-हजारों, नही लाखों हिन्दू हर साल पैसों, रुपयों, औरतो, ओहदों इत्यादि नाचीज वस्तुओं के लिए अपना धर्म बेच नहीं देते ? क्या हममें से कोई भी ईमानदारी से यह कह सकता है कि मैं अपने धर्म की खातिर हर तरह का दु:ख उठाने को तैयार हूँ ? हा, अफसोस, इस देश में न धर्म रहा और न धार्मिक लोग । केवल जबानी जमा-खर्च रह गया—हमारा धर्म, हमारी देशभक्ति, हमारा स्वजातीय प्रेम, हमारा उपकारी जीवन खाली लिफाफे की तरह है । उसके अन्दर न उद्देश्य के नोट हैं न सच्ची इच्छाओं की चिट्ठियाँ । संभव है कोई महान् पुरुष अपने जीवनचरित से हमें धर्म का सच्चा लक्ष्य बतला दे और इस भूली हुई जाति का हाथ पकड़कर उसे सीधे रास्ते पर डाल दे ।

□□